वीरोपाख्यान

लेखक—पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, साहित्याचार्य

वीरोपाख्यान

लेखक
चन्द्रशेखर

विषय सूची

पहिला खण्ड

युद्ध वीर

(१) श्रीरामचन्द्र।

(२) अर्जुन।

प्रारम्भिक वक्तव्य

श्मनों पर फ़तह पाने वाले हम लोगों की दृष्टि में वीर हैं। अस्त्र शस्त्रों में जिसने निपुणता प्राप्त की है, जो पराक्रमी और बली है उसे हम लोग वीर कहते हैं। नेपोलियन वीर था सिकन्दर वीर था क्योंकि इन लोगों ने अनेक देश जीते थे, दुश्मनों के झुंड के झुंड को हराया था। इसलिए हम लोगों की दृष्टि में ये वीर हैं। दुनियां इनकी वीरता पर मुग्ध है, बिना पैसे इन के गुण गाने वालों की कमी नहीं। दुनियां वीरों की तरफ़दार है कायरों की नहीं।

किसी के द्वारा किये गये अपमानों को जो न सह सके, अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध आत्म गौरव के प्रतिकूल यदि कोई अपने प्रति आचरण करे तो जिसकी शक्ति उत्तेजित हो जाय, जो अपने अपमानों विरोधाचरणों और प्रतिकूलताओं का बदला लेने के लिए तैयार हो जाय तथा बदला लेकर दम ले वह भी वीर कहा जाता है। यदि रावण सीता हरण न करता, तो रामचन्द्र काहे को समुद्र तीर जाते, काहे को समुद्र पर सेतु रचना होती, और काहे को रामचन्द्र समुद्र पार जाकर लंका जीतते। इसी प्रकार शत्रुओं के द्वारा यदि पाण्डवों का अपमान न होता, यदि पाण्डव शत्रुओं के द्वारा क्रूरता के साथ सताये न जाते, तो क्या यह

सम्भव था कि अर्जुन इतनी कठिन तपस्या करते ? रामचन्द्र और अर्जुन का सम्मान किसने बढ़ाया, इन्हें बड़े बनने का अवसर किसने दिया ? इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि शत्रुओं ने । जो शक्ति सोयी हुई थी वह छेड़ी गयी और सहसा जाग गयी, उसने छेड़ने वाले का पीछा किया और उसे घर दबाया । यह काम वीरों का है, अपमानित होने पर जो बदला ले वह वीर है, जो अपने अधिकारों को छोड़ दे, लुटता देखे और चुप चाप बैठा रहे, उसकी रक्षा का कोई उपाय न करे कोई उद्योग न करे, वह वीर तो है ही नहीं, मनुष्य नहीं किन्तु कायर है ।

अपमान सहना मनुष्यत्व का कलङ्क है, और अत्याचार करने वालों को अत्याचारी बनाना है । माघ कवि कहते हैं कि अपमान के दुःख से जलकर भी जो जीवित रहे उसका जन्म न लेना ही अच्छा था क्योंकि उसके जन्म से यदि कुछ फल हुआ तो वह यही कि उसकी माता को कष्ट उठाना पड़ा । इसी प्रसङ्ग में आगे चलकर वे लिखते हैं, जो चुप चाप अपमान सह लेता है, अपमान होने पर भी जिसका हृदय स्वस्थ बना रहता है उस से अच्छी तो वह रास्ते की धूल है जो पैरों से ठुकरायी जाने पर उठती है और सिर पर चढ़ जाती है । इन बातों से सिद्ध होता है कि जो अपनी शक्ति और अपने पराक्रम को स्वत्वरक्षा के लिए लगावे वह वीर है

वीर की शक्तियां महान् होती हैं, उसका उद्योग दृढ़ तथा

अचूक होता है, उसका पराक्रम अतुल होता है, उसका आत्म विश्वास अनुपम होता है, उसकी शक्तियां तथा इंद्रियां उसके अधीन होती हैं, इनका वह जिस प्रकार चाहता है उपयोग करता है, जहां चाहता है वहां वह इन्हें लगाता है। वह जो कार्य हाथ में लेता है उसे अवश्य ही सिद्ध कर के छोड़ता है, उसकी कार्य-परता, उसकी लगन अद्भुत होती है, वह कार्य क्षेत्र में आने के पहले ही फल का निश्चय कर लेता है, अपने इस प्रयत्न से मैं ऐसा फल उत्पन्न करूँगा इसका निश्चय वह पहले ही कर लेता है, और उसके निश्चय के अनुसार ही कार्य भी होता है। वह सीधी भाषा में अपने स्वभाव का वर्णन करता है, दुनिया कहती है यह दर्पोक्ति है, यह आत्मश्लाघा है, पर वह उक्ति होती है स्वभाव का यथार्थ वर्णन। हनुमान वीर थे, उन्होंने अपने स्वभाव के विषय में कहा है—

"पातालतः किमु सुधारसमानयामि,
चन्द्रं निपीड्य किमुतामृतमातरामि,
उच्चण्ड चण्ड किरणं किमु वारयामि,
कीनाशलोकमथवा ननु चूर्णयामि ॥

हनुमान कहते हैं, क्या पाताल से अमृत ले आऊँ, या चन्द्रमा को निचोड़ कर अमृत ले आऊँ, अथवा प्रचण्ड किरणवाले सूर्य को रोक दूँ या यमराज के लोक ही को तोड़ फोड़ दूँ। हनुमान ने जितने काम गिनाये हैं, उनको सिद्ध करने की बात तो दूर

की है, ऐसे काम हो सकते हैं इसकी कल्पना हम लोगों की शक्ति के बाहर की बात है। पाताल से अमृत ले आना तो कठिन है ही मैं तो समझता हूँ कि हम लोग वहां से विष भी नहीं ला सकते। अतएव हम लोगों के लिए ऐसे कथन दर्पोक्ति हो सकते हैं, पर उसके लिए यह दर्पोक्ति नही हैं जो पर्वतों को लेकर उड़ता है, समुद्र को कूदकर पार करता है। हनुमान ने आत्मश्लाघा नहीं की है और न उन्होंने अपना दर्प बतलाया है, उन्होंने सिर्फ यही कहा है कि मैं इन कामों को कर सकता हूँ, बतलाइए, इनमें आप की भलाई के लिए कौन काम करूँ। यह बात झूठी नहीं थी, क्यों कि इस तरह के उन्होंने कई काम कर दिखाये थे। ऐसी दशा में यह औरों के लिए यद्यपि दर्पोक्ति है पर हनुमान के लिए नहीं, इन के लिए तो यह स्वभाव का कथनमात्र ही है।

लोकोत्तर काम करने वाला वीर कहा जाता है। जो काम साधारण शक्तियों से सिद्ध नहीं हो सकते उन्हीं कामों को जो शक्ति सिद्ध करे, जो पराक्रम कठिन काम को आसान कर दिखावे वही वीरता है और उस वीरता का अधिकारी वीर है। पर यह न समझिए कि शारीरिक बल रखने वाला वीर होता है। शारीरिक बल से और वीरता से कुछ विशेष सम्बन्ध नहीं। वीरता का सम्बन्ध है मानसिक बल से। जिसका मन बलवान होता है, जिस में उत्साह अधिक होता है, अपनी शक्तियों पर जिसका भरोसा होता है, जिसका मन अपने अधीन होता है, वही लोकोत्तर काम कर

सकता है, वही वीरता के मैदान में पैर बढ़ा सकता है, अतएव वही वीर है।

आज के पहले जो वीर हो गये हैं वे शायद शारीरिक बल में भीम की बराबरी न कर सकते होंगे। भीम के छोटे भाई अर्जुन शारीरिक बल से भीम से बहुत उतरे हुए थे, पर प्रधान वीरों में गणना अर्जुन की होती है भीम की नहीं। नेपोलियन एक साधारण क़द का आदमी था, छत्रपति शिवाजी लम्बे और दुबले थे, महाराणा प्रताप नाटे क़द के थे। इन के शरीर की बनावट देखने से यह बात नहीं मालूम पड़ती कि इनका शारीरिक बल अधिक होगा। पर ये वीर थे, इनकी वीरता की धाक आज भी ऐतिहासिकों के हृदयों में तथा उनकी लिखी पुस्तकों में साफ़ साफ़ दीख पड़ती है। इसका यह अर्थ नहीं कि ये दुर्बल थे, इनमें इतना अधिक मानसिक बल था, अपने उद्देश्य से इनकी इतनी लगन थी कि ये किसी भी सामने आने वाले बाधा विघ्नों को कोई चीज़ ही नहीं समझते थे। महाराणा प्रताप ने अपनी मुट्ठी भर राजपूती सेना को अकबर की अगाध प्रबल सेना की अपेक्षा भी दुर्बल नहीं समझा। उनके सामने स्वाधीनता की रक्षा, धर्म की रक्षा और अपनी मर्यादा की रक्षा की समस्या सदा उपस्थित रहती थी, इनकी रक्षा उनके लिए सांसारिक सब वासनाओं से प्रिय थी, यही उनका कर्तव्य था, अतएव उनके सामने बलाबल का कभी प्रश्न ही उपस्थित न हुआ। और अन्त में वे सफल हुए, वे कंगाल

हो गये, मेवाड़ का महाराणा कौड़ियों का मुहताज हो गया, पर उसने अपनी स्वाधीनता की रक्षा की, उसने अपना धर्म बचाया अपनी मर्यादा रखी, उसने अपने कार्यों से बतलाया कि स्वाधीनता, धर्म तथा मर्यादा के क्या मूल्य हैं, इनकी रक्षा के लिए कितना त्याग करना चाहिए। अतएव महाराणा प्रताप वीर हैं, दुनिया उनका गुण गान करती है।

साहित्य शास्त्रियों ने नव रसों में वीर रस नाम का एक रस माना है। इसका स्थायी भाव उत्साह है, शत्रु की चेष्टा, गर्जन, अहङ्कार आदि उद्दीपन हैं। इन बातों की व्याख्या वहां की गई है। यहां हम रस निरूपण करने नहीं बैठे हैं। अतएव इसके लक्षण पर बहस करना हमें अनावश्यक प्रतीत होता है।

वीरों की प्रकृति और कार्यों पर विचार करने से मालूम होता है कि वे वस्तु विशेष, सिद्धान्त विशेष या भाव विशेष की रक्षा के भाव से प्रेरित होकर मैदान में आते हैं तथा अपनी शक्ति, पराक्रम आदि का उपयोग करते हैं। रामचन्द्र ने युद्ध किया वस्तु विशेष की रक्षा के लिए, अर्जुन ने युद्ध किया सिद्धान्त और वस्तु विशेष की रक्षा के लिए, महाराणा प्रताप ने युद्ध किया भाव की रक्षा के लिए, महाराणा प्रताप की लड़ाई किसी वस्तु या सिद्धान्त की लड़ाई नहीं थी, वह थी भाव की लड़ाई। इस लड़ाई में उनकी बड़ी हानि हुई पर वे बराबर लड़ते रहे और प्रसन्नता से लड़ते रहे। युद्ध में विजय होती है यह लाभ है, पर हानि भी कम नहीं होती, हिसाब लगाकर देखा जाय तो लाभ की अपेक्षा हानि की

ही तोला प्राय: बढ़ जाय। पर वीर हानि की ओर ध्यान नहीं देते। वे उस हानि को हानि नहीं समझते, किन्तु त्याग समझते हैं।

वह त्याग कई प्रकार से किया जा सकता है, कई बातों के लिए किया जा सकता है और किया जाता है। इस उपयोग-भेद के कारण साहित्य के विद्वानों ने वीर रस को चार प्रकार का माना है। १ युद्ध वीर, २ धर्मवीर, ३ दयावीर, ४ दानवीर। कई विद्वानों ने दानवीर को पृथक नहीं माना है, उसे धर्म और दया के अन्तर्गत ही समझा है। मैं चार भेद वालों की ही बात ठीक समझता हूँ, इस कारण मैंने उन्हीं का अनुसरण किया है।

इस पुस्तक में इन्हीं चारो प्रकार के वीरों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, तथा इनके सम्बन्ध में जो मैंने विद्वानों की सम्मति सुनी है वह लिपि बद्ध की है।

चन्द्र शेखर

वीरोपाख्यान

श्रीरामचन्द्र और अर्जुन

नों ही महाबीर थे, एक त्रेता के वीराग्रगण्य थे और दूसरे द्वापर के अन्त के। दोनों के पराक्रम से अद्भुत अद्भुत काम हुए हैं, जो काम दूसरे नहीं कर सकते थे, जहां दूसरों की शक्ति कुण्ठित हो गयी थी, वहीं इन दोनों को सफलता मिली। एक की शक्ति की पहली परीक्षा हुई थी जनक की सभा में और दूसरे की शक्ति की परीक्षा हुई थी राजा द्रुपद की सभा में। दोनों ने लोकोत्तर काम किये। उस समय के सभी प्रधान प्रधान वीरों की शक्तियां इन दोनों स्थानों में कुण्ठित हो चुकी थीं। रावण वाण आदि बड़े बड़े वीर धनुष को देखकर धीरे से खिसक चुके थे, उन्होंने अपना बल अज़मा लिया था, सफलता की आशा न थी इसी से वहां से खिसक गये थे। यही बात द्रुपद की सभा में भी देखी गयी थी। सभी वीर आये थे, सभी ने बल लगाया, पर कोई सफल न हुआ। लोग हताश

हो चुके थे। जनक सभा में रामचन्द्र उपस्थित हुए थे बालक रूप में, उनके द्वारा इस विकट कार्य में सिद्ध होने की सम्भावना न थी, द्रुपद सभा में अर्जुन उपस्थित हुए थे ब्राह्मण वेश में, इनके विषय में तो किसी ने कल्पना तक भी नहीं की थी, जहां बड़े बड़े क्षत्रिय वीरों की शक्तियां कुण्ठित हो चुकी हैं वहां एक ब्राह्मण युवा सफल होगा इसकी कल्पना किसने की थी, और वह करता भी क्यों ? पर वहां भी ये दोनों महावीर सफल हुए।

इन दोनों के पराक्रम की दूसरी परीक्षा एक खण्ड युद्ध में होती है। दोनों ही बनवासी हैं, असहाय हैं, एक के लिए युद्धक्षेत्र नियत हुआ था दण्डकवन और दूसरे के लिए विराट की राजधानी। एक के प्रतिद्वन्दी थे महाश्रमी रावण के सेनापति खर और दूषण तथा उनकी चौदह हजार सेना। दूसरे के प्रतिद्वन्दी थे स्वयं महाराज दुर्योधन, और उनके साथी थे द्रोण भीष्म कर्ण आदि विश्वविख्यात वीर। दोनों ने अपने अपने प्रतिद्वन्दियों का हौसले के साथ सामना किया। एक ने तो युद्धक्षेत्र में आये हुए अपने प्रतिद्वन्दियों का नामोनिशान मिटा दिया, एक को भी जीता जाने न दिया। दूसरे ने अपने प्रतिद्वन्दियों को भगा दिया, रणक्षेत्र में बेहोश कर दिया। इस दूसरी परीक्षा ने दोनों का परिचय लोगों से कराया। रावण के सेनापतियों ने समझा कि यह है कोई अद्भुत पराक्रमी नरपुंगव। दुर्योधन आदि ने समझा कि यह तो अर्जुन है, ऐसी रण निपुणता अर्जुन को छोड़कर और कहां पायी जा सकती है. वीरता पर अर्जुन का सिक्का जम गया, जहां

कोई लोकोत्तर कार्य हुए, अद्भुत पराक्रम के कार्य देखे गये लोगों ने कहा यह अर्जुन का काम है।

इनकी अन्तिम परीक्षा हुई थी, रावण और दुर्योधन के रण-क्षेत्र में। एक लड़ने के लिए लंका गया था और दूसरे का रणक्षेत्र था कुरुक्षेत्र का मैदान। एक ने रावण कुम्भकर्ण मेघनाद तथा अन्य राक्षस वीरों का सामना किया था और उन्हें सदा के लिए इस लोक से विदा कर दिया था। दूसरे ने सामना किया था द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, दुर्योधन, दुःशासन, भगदत्त, भूरिश्रवा तथा अन्य अगणित वीरों का। दोनों ही सफल रहे। दोनों ही विजयी रहे।

एक बनवासी हुआ था पिता के आज्ञा पालन के लिए, दूसरा बनवासी हुआ था बड़े भाई के साथ से। दोनों ही ने कोई अपराध नहीं किया था। दोनों के नैतिक चरित्र ऊंचे थे, हृदय विशाल थे, मन उदार थे। एक पिता की आज्ञा का आभास पाते ही बन के लिए तैयार हो गया, और दूसरा बड़े भाई के साथ बन में चला गया। दोनों ही वीर थे, दोनों ही शक्तिमान् थे, दोनों ही ने वीरता के बड़े बड़े काम कर दिखाये, पर इनका व्यक्तित्व सदा छिपा रहा। रामचन्द्र ने रावण से शत्रुता मोल ली सूर्पनखा की नाक कटवा कर और दुर्योधन पाण्डवों के सामने स्वयं आकर खड़ा हुआ। रावण से ऋषिगण त्रस्त थे, देवता भयभीत थे, संसार की स्त्रियों की इज्जत खतरे में थी। रामचन्द्र ने उससे युद्ध किया और इन सब की रक्षा की। दुर्योधन पाण्डवों के सामने स्वयं आकर

खड़ा हुआ। वह युधिष्ठिर का स्वतः सिद्ध हक़ देना नहीं चाहता था। पाण्डवों ने उसका सामना किया। पाण्डवों के बल कहिए, शक्ति कहिए, जो कुछ कहिए वह सब अर्जुन थे। अर्जुन ने युद्ध किया और वे विजयी हुए। राजा हुए युधिष्ठिर।

राम और अर्जुन दोनों का जीवन साहसिक कार्यों का जीवन है, इन दोनों ने अपने जीवन में सदा ख़तरे के काम किये हैं पर अपने लिए नहीं दूसरों के लिए। अपने लिए ये सदा पराक्रम शून्य रहे हैं। आगे इनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। कृपाकर ध्यानपूर्वक विचार देखिए इनमें कौन बड़ा वीर था और कृपाकर यह भी इनकी जीवन घटनाओं में ढूंढ़िए कि इनकी सफलता का बीज क्या है, रहस्य क्या है।

युद्धवीर भगवान् रामचन्द्र
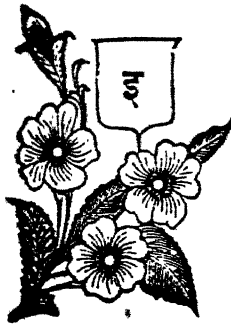
क्ष्वाकु वंशीय राजाओं की राजधानी होने का सौभाग्य अयोध्या नगरी को बहुत दिनों से मिला है। इस वंश में बड़े बड़े प्रतापशाली राजा हो गये हैं। राजा दशरथ भी बड़े प्रतापशाली थे। उनके समय में अयोध्या की प्रजा सब प्रकार से सुखी और समृद्ध थी। प्रजा का सुखी होना राजा के बड़े मंगल और गौरव की बात है। राजा दशरथ को वह गौरव मिला था।

अन्य प्रकार की लौकिक सम्पत्तियां भी राजा दशरथ के अधीन थीं। संसार की सब सम्पत्तियों के होने पर भी एक पुत्र के अभाव से वे सदा दुखी रहा करते थे। प्रजा भी राजा के इस दुःख से दुखित थी।

महर्षि वशिष्ठ की आज्ञा से राजा दशरथ ने पुत्र के लिये यज्ञ करने का विचार निश्चित किया। वामदेव, जावालि, कश्यप आदि महर्षियों को यज्ञ के लिए निमंत्रित किया। सरयू नदी के उत्तर तीर पर यज्ञ मंडप बनवाया गया। महर्षियों के सम्मति के अनुसार ऋष्यश्रृङ्ग मुनि यज्ञ कराने के लिये बुलाए गये। विधि पूर्वक यज्ञ हुआ और यज्ञ का चरु कौशल्या कैकेयी और सुमित्रा नाम की दशरथ की तीनों प्रधान रानियों को दिया गया।

कुछ दिनों के पश्चात् दशरथ की तीनों रानियाँ गर्भवती हुईं। दुख से जले हुए राजा के हृदय में आशा लता का अंकुर उत्पन्न हुआ। यथा समय कौशल्या ने एक पुत्र, कैकेयी ने एक पुत्र और सुमित्रा ने दो पुत्र उत्पन्न किये। इससे राजा बड़े आनन्दित हुए, उन्होंने अपने को कृतार्थ समझा। चारों बालक राजा के यत्न से दिनों दिन बढ़ने लगे। महर्षि वशिष्ठ ने शुभ मुहूर्त में कौशल्या के पुत्र का नाम राम, कैकेयी के पुत्र का नाम भरत और सुमित्रा के पुत्रों का नाम क्रम से लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न रखा।

राजपुत्रों का चूड़ाकर्म और उपनयन संस्कार यथा समय किया गया। राजा ने योग्य विद्वानों के हाथ में राजकुमारों की शिक्षा का भार दिया। जिससे थोड़े ही दिनों में चारो राजकुमार शस्त्र और

शास्त्र विद्या में पूरे पारङ्गत हो गये। राम के साथ लक्ष्मण और भरत के साथ शत्रुघ्न का स्वाभाविक प्रेम था और ये लोग सदा साथ रहा करते थे। पुत्रों को सुशिक्षित देख कर राजा के मन में उनके ब्याह कर देने का विचार उत्पन्न हुआ। उन्हीं दिनों महर्षि विश्वामित्र राजा के दरबार में गये और उन्होंने यज्ञ में विघ्न करने वाले राक्षसों के दमन के लिये रामचन्द्र को अपने साथ ले जाने की आज्ञा मांगी। राजा की इच्छा नहीं थी पर महर्षि विश्वामित्र के भय और वशिष्ठ के उपदेश से उन्होंने अपने राम और लक्ष्मण दोनों पुत्रों को महर्षि विश्वामित्र को दे दिया। विश्वामित्र दोनों राजकुमारों को लेकर अपने आश्रम में लौट आये। रास्ते में विश्वामित्र ने राम को कई अस्त्र और उनके मन्त्र भी बतलाये। विश्वामित्र के कहने से राम और लक्ष्मण ने ताड़का नाम की राक्षसी को मारा। रामचन्द्र ने अपने बाणों से मारीच को बड़ी दूर फेंक दिया। इससे महर्षि बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने राम को और कई नये अस्त्र दिये। राम और लक्ष्मण की सहायता से महर्षि का यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण हुआ। यज्ञ समाप्त होने पर महर्षि विश्वामित्र ने राम लक्ष्मण तथा अन्य ऋषियों को बुलाकर कहा कि राजर्षि जनक मिथिला में यज्ञ कर रहे हैं। वहां हमको जाना है; आप सब लोग भी चलें। राम और लक्ष्मण से उन्होंने कहा—वहां एक बड़ा ही अद्भुत धनुष है। राजा ने प्रतिज्ञा की है कि जो इस धनुष पर ज्या चढ़ा कर बाण चढ़ावेगा, उसी से मैं अपनी कन्या का विवाह करूँगा।

राम और लक्ष्मण राजा जनक के यज्ञ में गये। बड़े बड़े राजा जिस धनुष को नहीं उठा सके उसको राम ने उठा लिया और बाण चढ़ाया जिससे उसके तीन टुकड़े हो गये। रामचन्द्र की यह लोकोत्तर शक्ति देख कर लोग विस्मित हो गये। राजा जनक इससे बड़े प्रसन्न हुए, उन्होंने दूत भेज कर राजा दशरथ को अयोध्या से बुलवाया। जनक ने राम के साथ सीता का और लक्ष्मण के साथ उर्मिला का विवाह कर दिया और अपने छोटे भाई की माण्डवी और श्रुतकीर्ति नाम की दोनों कन्याओं का विवाह भरत और शत्रुघ्न से कर दिया। पुत्र और पुत्र वधुओं को ले कर दशरथ अयोध्या की ओर चले। रास्ते में प्रबल पराक्रमी परशुराम से उनकी भेंट हुई। परशुराम ने कहा—राम, राजा जनक के यहां तुम्हीं ने शिव धनुष तोड़ा है। लो इस हमारे धनुष को चढ़ाओ। दशरथ ने परशुराम को बहुत समझाया बुझाया पर उन्होंने दशरथ की एक बात न मानी। उसी समय रामचन्द्र ने आगे बढ़कर परशुराम का धनुष ले लिया और उसपर उन्होंने बाण चढ़ा दिया। परशुराम हार कर अपने घर लौट गये। दशरथ निर्विघ्न अयोध्या लौट आये। नगरवासियों को भी बहुत आनन्द हुआ। कुछ दिनों के पश्चात् भरत के मामा युधाजित् भरत और शत्रुघ्न को अपने यहां ले गये।

रामचन्द्र प्रजा के बड़े प्रिय थे, प्रजा ने उनकी दया, उदारता और महत्ता देखकर राजा दशरथ से उनको युवराज बनाने की प्रार्थना की। राजा दशरथ वृद्ध हो गये थे, इधर प्रजा भी रामचन्द्र

में प्रेम करती थी। इन बातों का विचार करके राजा दशरथ ने रामचन्द्र को युवराज बनाने का दृढ़ निश्चय किया और सब सामग्री एकत्र करने के लिये सेवकों को उन्होंने आज्ञा दी। इस संवाद को सुनकर नगरवासी बड़े प्रसन्न हुए। वे अपने अपने घरबार सजाने लगे।

रानी केकयी की एक दासी का नाम मन्थरा था। रामचन्द्र के अभिषेक की बात सुनकर उसको बड़ा दुख हुआ। उसने जाकर केकयी से सब बातें कहीं। मन्थरा ने कहा राजा दशरथ ने तुम्हें दो वर देने की प्रतिज्ञा की है। तुम एक वर में रामचन्द्र के लिए चौदह वर्ष का वनवास और दूसरे वर में भरत के लिये राज्य क्यों नहीं मांग लेती ? मन्थरा के बहुत समझाने से केकयी ने उसकी बातें मानलीं। उसकी बुद्धि मारी गयी। पहले दिये हुए वर का स्मरण कराकर राजा दशरथ से रामचन्द्र के लिये चौदह वर्ष का वनवास और भरत के लिये राज्य मांगा। केकयी की बातें सुनकर राजा मूर्छित हो गये। मूर्छा भंग होने पर उन्होंने राम को बुलाया पर वे रामचन्द्र से कुछ कह न सके। उनकी आँखों से अश्रु वृष्टि होने लगी। राम ने पिता की इस दुर्दशा का कारण पूछा। केकयी ने सब बातें कहीं। रामचन्द्र दृढ़तापूर्वक पिता की आज्ञा पालन करने के लिये तैयार हुए। पिता के यहाँ से विदा होकर माता के यहां विदा होने के लिये गये। इस संवाद को सुनने से कौशल्या को बड़ा दुख हुआ। पर राम के बहुत समझाने बुझाने से उन्होंने भी वन जाने की आज्ञा दे दी। लक्ष्मण और सीता भी रामचन्द्र

के साथ वन जाने के लिये तैयार हुये। रामचन्द्र ने बहुत चाहा कि ये लोग अयोध्या में ही रहें पर वे लोग भी साथ चले। दशरथ की आज्ञा से राम लक्ष्मण और सीता रथ पर चढ़ कर वन के लिये अयोध्या से विदा हुए। शृङ्गवेरपुर में पहुँच कर राम ने सुमन्त और रथ को लौटा दिया और वे वहीं निषाद के साथ एक रात रहे, वहां से भरद्वाज के आश्रम में आये। भरद्वाज की आज्ञा से चित्रकूट पर्वत पर एक कुटी बनाकर राम लक्ष्मण और सीता रहने लगे।

रामचन्द्र के वन चले जाने पर अयोध्या की बड़ी दुर्दशा हुई, सभी दुखी हुए। दशरथ अपने दुख को संभाल न सके और उन्होंने प्राण त्याग दिया। सूर्य के बिना दिन और चन्द्रमा के बिना रात्रि के समान अयोध्या की दशा हो गयी। राजा दशरथ की मृत्यु के बाद मन्त्रियों ने दूत भेज कर भरत और शत्रुघ्न को बुलाया। अयोध्या में आकर राजा दशरथ की मृत्यु और रामचन्द्र के बनवास की बात उन्होंने सुनी जिससे उनको बड़ा दुख हुआ। केकयी और मन्थरा को उन्होंने बहुत भला बुरा कहा और वे रामचन्द्र को लौटा लाने के लिये मन्त्रियों के साथ वन में गये। चित्रकूट में पहुँच कर भरत ने रामचन्द्र से भेंट की। भरत के भ्रातृप्रेम से रामचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए। पर किसी प्रकार भी पिता की आज्ञा टालने के लिये वे तैयार न हुए। इधर भरत को राज्य की कोई इच्छा न थी। रामचन्द्र अयोध्या जाना चाहते ही न थे। यह राज्य के लिए कितने अनिष्ट की बात थी!

रामचन्द्र ने भरत को बहुत समझाया और राज्य पालन करने के लिये उत्तेजित किया। भरत रामचन्द्र की आज्ञा से उनकी चरण पादुका लेकर अयोध्या लौट आए और नन्दिग्राम में रह कर प्रतिनिधि रूप से अयोध्या का राज्य शासन करने लगे। भरत के लौट आने पर लक्ष्मण और सीता के साथ रामचन्द्र अत्रि मुनिके आश्रम में गये। अत्रि ने रामचन्द्र का बड़ा सत्कार किया। महर्षि की धर्मपत्नी अनुसूया ने भी सीता का बड़ा आदर किया। उन्होंने सीता को बड़े सुन्दर उपदेश दिये।

महर्षि अत्रि के आश्रम से राम लक्ष्मण और सीता दण्डकारण्य में गये, और वहां से पंचवटी नामक वन में रहने लगे। विराध नामक एक भयंकर राक्षस ने उन पर आक्रमण किया और रामचन्द्र ने उसे मार डाला। वहां से वे शरभंग, सुतीक्ष्ण और अगस्त्य के आश्रमों में गये। अगस्त्य ने राम को एक दिव्य धनुष दिया। रामचन्द्र जिस समय पंचवटी में रहते थे उसी समय लंका के राजा रावण की बहिन आई और उसने रामचन्द्र से अपने विवाह करने की इच्छा प्रकट की। रामचन्द्रजी ने उत्तर दिया—मेरा व्याह हो गया है पर लक्ष्मण अभी तक भी अनव्याहे हैं तुम उन्हीं के पास जाकर अपना मनोरथ पूर्ण करो। शूर्पणखा लक्ष्मण के पास गयी और उसने अपना अभिप्राय प्रकट किया। लक्ष्मण ने उसे "ना" कहा। वह पुनः रामचन्द्र के पास आयी और भयानक रूप धारण करके सीता को खाने के लिये दौड़ी। यह देखकर लक्ष्मण ने उसकी नाक और कान काट लिये। यह अपमान रावण की बहिन

से सहा नहीं गया। दण्डकारण्य में खर और दूषण नामक राक्षस दो सेनापति रहते थे। शूर्पणखा उनके पास गयी और उसने कहा कि देखो लक्ष्मण ने हमारी यह दशा बनायी है। चौदह हजार राक्षसों को लेकर वे दोनों रामचन्द्र पर चढ़ आये। बड़ा भयानक युद्ध हुआ, उस युद्ध में राक्षसों का नाश हुआ और रामचन्द्र विजयी हुये।

शूर्पणखा यह सब देखती रही, उसे बड़ा कष्ट हुआ और वह लंका में रावण के पास पहुँची। उसने कहा—राम और लक्ष्मण राजा दशरथ के दो पुत्र पिता की आज्ञा से दण्डकारण्य में आये हैं। लक्ष्मण ने मेरी नाक और कान काट लिये हैं। यह मेरी दुर्दशा तुम देख ही रहे हो, दण्डकारण्य में तुम्हारी जितनी राक्षस की सेना थी उसे भी राम ने मार डाला है। राम के साथ एक बड़ी सुन्दरी स्त्री है यदि उसको तुम हर कर ले आओ तो इस अपमान का बदला हो सकता है। रावण शूर्पणखा की दुर्दशा से बहुत क्रुद्ध हुआ। सीता को हरने के लिये उपाय सोचने लगा। रथपर चढ़कर ताड़का के पुत्र मारीचि के यहां गया और उसने अपना अभिप्राय बतलाया। मारीचि ने उसे बहुत समझाया, इस विचार की बुराइयां बतलायी। पर रावण की समझ में कोई भी बात न आयी। वह अपने विचार पर अड़ा रहा और सीता हरण करने के काम में उसने मारीचि से सहायता मांगी। दूसरा कोई उपाय न देखकर मारीचि भी तैयार होगया, वह पंचवटी में पहुँचा। उस समय राम लक्ष्मण और सीता बैठे बात चीत कर रहे थे। उसी समय सोने का मृग बनकर वह उनके सामने घूमने लगा।

सीता ने ऐसा सुन्दर मृग नहीं देखा था। उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुईं और राम जी से कहा—यह मृग बड़ा ही सुन्दर है, इसको आप पकड़ दीजिए, अयोध्या में चलकर मैं यह मृग अपनी सासुओं को दिखाऊंगी और उनको अचम्भित करूंगी। रामचन्द्र सीता की रक्षा का भार लक्ष्मण को सौंप कर मृग के पीछे चले। वे बड़ी दूर तक चले गये पर मृग हाथ नहीं आया। उस समय रामचन्द्र को यह बात मालूम हुई कि यह यथार्थ मृग नहीं है, किन्तु मायामृग है। यह जानकर रामचन्द्र ने वाण छोड़ा और वह गिर पड़ा। हा सीते! हा लक्ष्मण! कह कर उसने प्राण त्याग किये।

मायामृग ने यह शब्द इतने ज़ोर से कहे थे कि वे सीता को स्पष्ट सुनाई पड़े। सीता बहुत दुखी हुईं, उन्होंने समझा राम किसी विपत्ति में हैं। सीता ने लक्ष्मण को रामचन्द्र जी के पास जाने को कहा। लक्ष्मण जाना नहीं चाहते थे, इससे सीता को बड़ा क्रोध आया और कई कड़ी कड़ी बातें कहीं। इससे लक्ष्मण सीता को अकेली छोड़ कर चले गये। रावण के लिये यह अच्छा मौक़ा मिला। उसने बलपूर्वक सीता को अपने रथ पर बैठा कर लंका की ओर प्रस्थान किया। सीता विवश थीं, वे रोती हुई उनके साथ चलीं। दशरथ के मित्र गृध्रराज जटायु उसी बन में रहते थे। उन्होंने सीता का विलाप सुनकर रावण का रास्ता रोका और अपने पैने नखों और चोंच से वे रावण को नोचने खसोटने लगे। रावण ने भी युद्ध करना प्रारम्भ किया। दोनों में कुछ देर तक लड़ाई

हुई अन्त में रावण के बाणों से पंख के कट जाने के कारण वे गिर पड़े, और रावण सीता को लेकर लंका चला गया।

इधर जब राम और लक्ष्मण अपने आश्रम में लौट कर आये तब वे वहां सीता को न देखकर बड़े दुखी हुये। उन लोगों ने चारो तरफ़ ढूंढा पर सीता का कहीं पता न मिला तब वे बन बन सीता को ढूंढने लगे। दूसरे बन में जाने पर इन लोगों ने गृध्रराज जटायु को देखा। उनके पंख कट गये थे, शरीर क्षत विक्षत होगया था, वे मृत्यु की बाट जोह रहे थे। जटायु ने राम से सीता का सब वृत्तान्त कह कर प्राण त्याग किया।

राम और लक्ष्मण ने पिता के मित्र गृध्रराज का अन्तिम संस्कार किया, तर्पण और पिण्डदान किया। तदनन्तर सीता को ढूंढ़ने के लिये वे आगे चले। राम और लक्ष्मण को एक विशाल देह कबन्ध राक्षस ने अपनी भुजाओं से बांध लिया। राम और लक्ष्मण इससे कुछ भयभीत या दुखी नहीं हुए। राम ने शीघ्र ही तीखे बाण चलाकर उसको मार डाला। राम के द्वारा मारे जाने पर उसे देवताओं का सा शरीर मिला और राम को सुग्रीव से मैत्री करने की सलाह देकर उसने प्रस्थान किया। उसके कहने के अनुसार सुग्रीव को ढूंढ़ते ढूंढ़ते राम और लक्ष्मण पम्पासर के पास गये।

किष्किन्धा का राजा बालि था। अपने छोटे भाई सुग्रीव को निकाल कर बड़े सुख से राज्य कर रहा था। राजा के द्वारा निकाले जाने पर सुग्रीव बन बन घूम रहा था।

लक्ष्मण को उसने देखा। उनको देखकर सुग्रीव बहुत डरा, पर हनुमान ने उसे समझाया और वे स्वयं भिक्षुक वेश में राम लक्ष्मण का परिचय जानने के लिये उनके पास गये। हनुमान से सुग्रीव का परिचय पाकर रामचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने समझा कि अब मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ। हनुमान के साथ वे ऋष्यमूक पर्वत पर गये और सुग्रीव के साथ बातचीत कर बहुत प्रसन्न हुए। बालि को मार कर सुग्रीव को राज्य देने की उन्होंने प्रतिज्ञा भी की। सुग्रीव ने भी सीता का पता लगाने के लिये सब प्रकार से प्रयत्न करने की प्रतिज्ञा की।

राम की आज्ञा से सुग्रीव बालि से लड़ने गया। वृक्ष की ओट में रहकर रामचन्द्र जी ने वाण मारा। बालि मर गया और किष्किन्धा का राज्य सुग्रीव को मिला। राम ने बालि को अन्याय पूर्वक मारा था, इसलिये बालि ने रामचन्द्र का तिरस्कार किया। रामचन्द्र ने उसे समझाया, उससे बालि प्रसन्न होगया और उसने अपने पुत्र अंगद को राम जी के हाथों सौंप दिया।

राज्य पाकर सुग्रीव राज्य सुख भोगने लगा। सीता का पता लगाने की जो उसने प्रतिज्ञा की थी उसे वह एक प्रकार से भूल ही गया। सुग्रीव के इस आचरण को देखकर राम बहुत दुखी हुए, उन्होंने लक्ष्मण को भेजा और कहवाया कि यदि शीघ्र ही सीता को ढूंढ़ने का प्रयत्न नहीं किया गया तो उसका फल सुग्रीव के लिये अच्छा न होगा। इस संवाद से सुग्रीव की नींद टूटी और उसने सीता का पता लगाने के लिये चारो ओर अपने वानर सैनिकों को

भेजा। वे लौट आये और सीता का कहीं पता न लगने की बात उन लोगों ने कही। दक्षिण दिशा में जो दल भेजा गया था उस दल के नायक अंगद और हनुमान थे। जब सीता के पता लगाने का कोई उपाय इन लोगों को न सूझा तब सभी ने उपवास के द्वारा समुद्र तीर पर प्राण त्याग करने का निश्चय किया। इसी समय गृध्रराज सम्पाति से उनकी भेंट हुई। सम्पाति ने रावण का पता बताया और वहीं सीता के होने की बात भी उसने कही। अब इन लोगों के सामने समुद्र पार करने की विषम समस्या उपस्थित हुई क्योंकि सीता का पता लगाने के लिये समुद्र का पार करना आवश्यक था। ऋक्षराज जाम्बवान ने हनुमान के पराक्रम की प्रशंसा की और वे समुद्र पार जाने के लिये तैयार हुये।

महेन्द्र पर्वत पर चढ़कर हनुमान कूदकर लंका चले गये। लंका में बहुत देर तक इधर उधर ढूंढ़ने पर अशोक वाटिका में सीता जी उनको मिलीं। हनुमान ने सीता जी को प्रणाम किया, अपना परिचय दिया। रामचन्द्र का संवाद सुनाया और रामचन्द्र का दिया हुआ परिचय चिन्ह दिया। सीता ने हनुमान को रामचन्द्र का दूत जाना और उनसे अपनी समस्त दुख कहानी कही। सन्देश तथा अपना चिन्ह देकर उनको विदा किया। हनुमान ने लंका से चलने के समय रावण के बल जानने की इच्छा से उनके नज़र बाग को तोड़ना फोड़ना प्रारम्भ किया, वहां के पहरेदारों को मार डाला। इस ख़बर को सुनकर रावण ने बड़ा क्रोध किया और हनुमान को पकड़ ले आने के लिए अपने पुत्र अक्षयकुमार को भेजा। हनुमान ने

उसको भी सेना के साथ मार डाला। तब रावण की आज्ञा से मेघ-नाद गया और वह हनुमान को बांधकर राजसभा में ले आया।

दूत को मारना न चाहिये, इसलिए रावण ने हनुमान के वध की आज्ञा न दी। रावण ने कहा इसकी पूँछ जला दो। राजा की आज्ञा से हनुमान की पूँछ में बहुत कपड़े लपेटे गए। घी और तेल लगाकर आग लगा दी गयी। तब हनुमान कूद कर रावण के महल पर चढ़ गये और एक घर से दूसरे घर पर और वहां से तीसरे पर आग लगा कर हनुमान लंका को जलाने लगे। लंका जलाकर और समुद्र पार कर हनुमान रामचन्द्र के पास आये। हनुमान से सीता का संवाद जान कर रामचन्द्र ने लक्ष्मण और सुग्रीव से सलाह लेकर लंका पर चढ़ाई करना निश्चित किया। पर लंका पर चढ़ाई करने के लिए समुद्र पार जाना आवश्यक है, इसलिए समुद्र पार करने का उपाय सब लोग सोचने लगे।

समुद्र का पार जाना असाध्य है, यह सोच कर रामचन्द्र बहुत दुखी थे। सुग्रीव ने पुल बनाकर समुद्र पार करने का विचार निश्चित किया। वानरी सेना लेकर रामचन्द्र समुद्र तीर पर उपस्थित हुए।

लंका में गुप्तचरों के द्वारा रावण को यह ख़बर मिली कि रामचन्द्र सेना लेकर लंका पर चढ़े आ रहे हैं। रावण अपने मन्त्रियों के साथ इसी सम्बन्ध में विचार कर रहा था। वह कह रहा था कि नर वानरों को खाकर राक्षस गण ख़ूब आनन्द मनावेंगे। रावण का छोटा भाई विभीषण भी उसी सभा में बैठा था। उसने कहा

कि रामचन्द्र से विरोध करना अच्छा नहीं। सीता देकर उनसे मैत्री कर लेनी चाहिये। रावण को यह बात बड़ी बुरी लगी। उसने विभीषण को अपमानित करके निकाल दिया। वह समुद्र तीर पर रामचन्द्र जी की शरण गया।

राम ने वानरों की सहायता से समुद्र पर पुल बांध लिया और अपनी वानरी सेना के साथ लंका में प्रवेश किया। राम और रावण का युद्ध प्रारम्भ हुआ। धीरे धीरे रावण के प्रधान प्रधान राक्षस मारे गये। लक्ष्मण ने मेघनाद का वध किया और राम ने कुम्भकर्ण तथा रावण का वध किया। इस प्रकार युद्ध समाप्त हुआ और राम विजयी हुए।

युद्ध समाप्त होने के बाद राम ने सीता को बुलाया और उन से इस प्रकार कहा—तुमने आज तक राक्षस के घर में वास किया है। हमारा कोई मनुष्य तुम्हारे पास नहीं था। तुम्हारा चरित्र शुद्ध है कि नहीं इसके विषय में मैं कुछ नहीं जानता। ऐसी अवस्था में मैं तुमको किस प्रकार ग्रहण कर सकता हूं। इसलिए तुम सुग्रीव विभीषण इत्यादि सज्जनों में से किसी के घर रहो। मैं तुमको ग्रहण नहीं कर सकता। राम के इन शब्दों से सीता को बहुत कष्ट हुआ। सीता ने लक्ष्मण को आज्ञा दी कि मेरे लिए तुम एक चिता तैयार करो। लक्ष्मण ने सीता की आज्ञा तथा रामचन्द्र की इच्छा जान कर चिता तैयार की और उसमें आग जला दी। उस धधकती हुई चिता में सीता ने प्रवेश किया। चिता हू हू करके जल गयी। सीता अदृश्य हो गयीं। लोगों ने यह देख कर बड़ा आश्चर्य किया।

कुछ देर के बाद अग्नि देव ने सीता को राम के समीप उपस्थित किया। उन्होंने सीता के निष्कलंक होने की साक्षी दी। रामचन्द्र ने सीता को ग्रहण किया।

इसके अनन्तर सीता और लक्ष्मण के साथ राम अयोध्या को लौट गये पिता के राज्य पर अभिषिक्त होकर राज्य करने लगे और अपने तीन भाइयों के साथ सुख पूर्वक रहने लगे।

रामचन्द्र ने अपने शासन के विषय में पुरवासियों का मत जानने के लिये कई गुप्त दूत नियुक्त कर रखे थे। कुछ दिनों के बाद उन्हीं में का एक गुप्त दूत महाराज के समीप आ कर बोला:—महाराज सब पुरवासी आप की प्रशंसा कर रहे हैं। पर राक्षस के घर में बहुत दिनों तक रहने पर भी सीता का महराज ने ग्रहण किय है, इसके लिए कुछ लोग दोष देते हैं।

सीता के इस कलंक की बात सुन कर रामचन्द्र बहुत दुखी हुए। उन्होंने अपने भाइयों को बुला कर कर्तव्य निश्चित किया और कहा लक्ष्मण सीता के कलंक की बात सुनकर मैं बहुत दुखी हुआ हूँ। जब प्रजा नहीं चाहती तब मैं उसे राजधानी में किसी प्रकार नहीं रख सकता। तुम उसको ले जाकर वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आओ।

रामचन्द्र की आज्ञा से वाल्मीकि के आश्रम में सीता को रख कर लक्ष्मण रोते रोते लौट आये। वाल्मीकि रोती हुई सीता को अपने आश्रम में बड़े आदर के साथ ले गये। जिस समय सीता को बनवास दिया गया था उस समय वे गर्भवती थीं।

यथा समय सीता ने दो पुत्र उत्पन्न किये। महर्षि वाल्मीकि ने उन बालकों का विधि पूर्वक जात कर्म आदि संस्कार किया और विद्या सिखाई। उन्होंने अपनी बनाई रामायण का तान लय के साथ ज्ञान भी सिखाया।

अयोध्या में रामचन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ करने का विचार किया और सब लोगों को उन्होंने निमंत्रण भेजा, और वे सोने की सीता बना कर यज्ञ करने के लिए तैयार हुए। निमंत्रित ऋषि मुनियों के आने पर रामचन्द्र ने यज्ञ करना प्रारम्भ किया। यज्ञ की समाप्ति पर महर्षि वाल्मीकि के शिष्य सीता-पुत्र लव और कुश ने रामायण का गान गाया। गान सुन कर सभा के सभी मनुष्य प्रेम गद्-गद् हो गये। राम भी उस गान को सुन कर मुग्ध हो गए। सभा के अन्य लोग दोनों बालकों का आकार रामचन्द्र के समान देख कर आपस में तर्क वितर्क करने लगे कि ये रामचन्द्र के पुत्र हैं कि नहीं। गान समाप्त होने पर वाल्मीकि ने उन बालकों का परिचय कराया। उस समय रामचन्द्र ने सीता को अपनी शुद्धता प्रमाणित करने के लिये बुलाया। सीता तपोबन से लायी गयीं; उन्होंने आकर कहा माता मुझे स्थान दो। पृथिवी के दो टुकड़े हो गये और सीता पाताल में चली गयीं। रामचन्द्र ने लवकुश को ग्रहण किया।

एक दिन तपस्वी का वेष धर कर काल पुरुष रामचन्द्र के समीप आये। उन्होंने कहा मैं ब्रह्मा का दूत हूँ, आप से एकान्त में बातें करने आया हूँ। हम लोगों के बात चीत करने के समय यदि

कोई दूसरा मनुष्य आ जाय और वह आप का अत्यन्त प्रिय ही क्यों न हो तथापि आप को उसका त्याग करना पड़ेगा। राम ने उसका कहना मान लिया और वे दोनों बात चीत करने लगे। उसी समय महर्षि दुर्वासा वहां आये। उन्होंने लक्ष्मण से कहा कि मेरे आने का संवाद रामचन्द्र को दो। लक्ष्मण ने कहा कि थोड़ी देर ठहर जाइये। इस पर महर्षि दुर्वासा ने बड़ा क्रोध किया। लक्ष्मण ने समझा कि इस क्रोधी ऋषि के क्रोध से समस्त अयोध्या को दुख उठाना पड़ेगा। इसकी अपेक्षा मेरा ही दुख उठाना अच्छा। यह विचार कर वे राम के पास दुर्वासा के आने की ख़बर देने के लिए चले गये। राम ने विवश हो कर अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार लक्ष्मण का त्याग किया। इससे लक्ष्मण बहुत दुखी हुए और उन्होंने सरजू में जा कर अपने प्राण त्याग दिये। लक्ष्मण के समान प्रिय और आज्ञाकारी भाई का वियोग रामचन्द्र के लिये असह्य हुआ। राम, भरत और शत्रुघ्न ने अपने अपने पुत्रों को भिन्न भिन्न देशों का राज्य दे कर सरजू जल में जीवन विसर्जन किया।

गुण विकाश।

पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही रामचन्द्र ने ताड़का बध और मारीच पर विजय प्राप्त करके पहले ही पहल अपने वीरता का परिचय दिया। ताड़का राक्षसी थी; उसमें सौ हाथियों का बल था। उसकी भयानक मूर्ति को देख कर बड़े बड़े वीरों का हृदय कांप उठता था। उसी राक्षसी का राम ने केवल लक्ष्मण की सहायता से बध किया।

सीता स्वयंवर के समय राम ने जो प्रबल पराक्रम दिखाया था, उसके सामने और सब पराक्रम तुच्छ हैं। पृथ्वी के बड़े बड़े प्रसिद्ध वीर जिस धनुष को उठाने में समर्थ न थे, उसी धनुष को रामचन्द्र ने सहज ही में उठा कर प्रत्यंचा चढ़ायी। प्रत्यंचा चढ़ाने के समय धनुष टूट गया। विवाह संस्कार हो जाने के बाद पिता के साथ अयोध्या लौटते समय, क्षत्रियों का संहार करने वाले जमदग्नि के पुत्र परशुराम कुठार और शरासन धारण किये हुए उपस्थित हुये। दशरथ और उनकी सेना परशुराम के भयानक स्वरूप का दर्शन कर भयभीत हो गयी। उसी विख्यात वीराग्रणी परशुराम को रामचन्द्र ने क्षण मात्र में पराजित करके सारे भूमंडल में अपनी अतुल वीरता का परिचय दिया।

दण्डकारण्य में खर, दूषण के साथ राम लक्ष्मण का युद्ध हुआ। उस युद्ध में राम ने ऐसी वीरता दिखाई जिसकी उपमा शायद ही कहीं हो। एक ओर केवल राम दूसरी ओर चौदह हजार। जिस प्रकार अग्नि का कण रूई के बड़े बड़े ढेरों को जला देता है उसी प्रकार राम ने युद्ध में सब राक्षसों को भस्म कर दिया।

लंका युद्ध में राम ने जिस प्रकार युद्ध कौशल और वीरता का परिचय दिया है, त्रिभुवन में ऐसा कौन वीर होगा जो उसकी प्रशंसा न करता हो। रावण कुम्भकर्ण इत्यादि दिग्विजयी वीर थे। इन वीरों के प्रबल पराक्रम से पृथ्वी थर्रा उठती थी। इस युद्ध के आरम्भ होने से प्रतिपक्षी वीर गण साक्षात् यमराज का

युद्ध समझ कर हतोत्साह हो गये। कुम्भकर्ण के आकार को देख कर वीर गण डर गये। क्योंकि उस समय ऐसे आकार का विरला ही कोई मनुष्य होगा। कुम्भकर्ण को देखकर राम की समूची सेना भयभीत हो गयी।

शत्रु सेना के रुधिर से रंजित अस्त्र शस्त्रों को लेकर महा पराक्रमी कुम्भकर्ण जब रणक्षेत्र में आया तब उसको देखकर वानरी सेना व्याकुल हो गयी और भय से इधर उधर भागने लगी। इसके पहले भी कुम्भकर्ण ने अपने पराक्रम द्वारा संसार के बड़े बड़े वीरों को कंपाया था। पर वही कुम्भकर्ण रामचन्द्रजी के तीव्र वाणों के सामने नहीं ठहर सका। उसे प्राण त्याग करना पड़ा।

रावण त्रिलोक विजयी वीर था। उसका नाम सुनते ही मनुष्यों की तो बात ही क्या देवता और असुर भी कांप जाते थे। सर्व संहारकारी यमराज भी उसके भय से भयभीत रहा करते थे। उस रावण को भी रामचन्द्रजी के हाथों प्राण खोने पड़े।

रामचन्द्र की वीरता स्मरणीय है। उनकी वीरता, दूसरों को कष्ट पहुँचाने के लिए नहीं थी। स्वभावतः रामचन्द्र के शरीर पर क्षत्रिय तेज झलकता था। वे अपने अपमान को मृत्यु पर्यन्त भी नहीं सहन कर सकते थे। दुष्टों के दमन के लिए और सन्तों की रक्षा के लिये यदि रामचन्द्र को प्राण विसर्जन करना पड़े तो वे हमेशा इसके लिए तैयार रहते थे। किसी दूसरे का राज्य छीनकर अपने राज्य की वृद्धि करने अथवा अपना प्रभुत्व स्थापित करने के अभिप्राय से कभी किसी पर राम वीरता नहीं दिखाते थे। इस

तरह की वीरता को वे कायरों की वीरता समझते थे। क्षत्रियों के क्षत्रियत्व की रक्षा करने के लिए, अत्याचारियों के अत्याचार को रोकने के लिए, पापियों के पाप का उचित दण्ड देने के लिए और संसार से पाप को हटाने के लिए, जिस जगह आवश्यकता हुई वहीं रामचन्द्रजी ने शस्त्र ग्रहण किया, अन्यथा नहीं।

मर्यादा पुरुष।

भगवान् के प्रधानतः दस अवतार हुए हैं। उनमें भी श्रीकृष्ण और श्रीराम ये दोनों मुख्य हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार पूर्णावतार है। भागवत् में लिखा है "अन्येचांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" अन्य अवतार तो विष्णु के अंशावतार और कलावतार ही हैं, पर श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने अवतार धारण करने का प्रयोजन गीता में इस प्रकार बतलाया है:—

परित्राणाय साधूनां विनाशायच दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापानार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

साधुओं की रक्षा के लिए, पापियों के विनाश के लिए और धर्म की स्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में उत्पन्न होता हूं। भगवान् श्रीकृष्ण की सहायता पाने के लिए उनके वरद हस्त से कल्याण प्राप्त करने के लिए साधु होना आवश्यक है। यदि कोई पापी हो तो फिर उसकी रक्षा नहीं। उसके कल्याण के लिए श्रीकृष्ण के राज्य में कोई उपाय नहीं। उसका नाश होगा। श्रीकृष्ण कहते हैं पापियों के नाश के लिए मैं अवतार धारण करता हूं। पर रामचन्द्र के

राज्य में यह बात नहीं। उनके अवतार धारण करने का उद्देश्य उदार है। भगवान् रामचन्द्र अपने स्वभाव के विषय में कहते हैं:-

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

एक बार भी मैं तुम्हारा हूं ऐसा कहता हुआ जो कोई मेरी शरण आता है उन सब प्राणियों को मैं अभय देता हूं, यह मेरा व्रत है। श्री राम से सहायता पाने का सभी को अधिकार है, चाहे वह पापी हो या पुण्यात्मा, रामचन्द्र सभी का उद्धार करते हैं, उनका द्वार सिर्फ पुण्यात्माओं के लिए ही नहीं खुला है, और पापात्माओं के लिए बन्द भी नहीं है। भगवान् रामचन्द्र का जो बरद हाथ तपस्वियों, योगियों, यतियों और ज्ञानियों की ओर जिस उमंग से बढ़ता है ठीक उसी उमंग से पापियों पतितों की ओर भी बढ़ता है। शबरी, वालि, विभीषण आदि की रक्षा के लिए श्री राम ने कम प्रयत्न नहीं किया। ये लोग उनको किसी से कम प्रिय नहीं थे। इनकी जाति कर्म आदि की बातें चाहे जितनी निन्दित रही हों पर भगवान रामचन्द्र की शरण में गये और उन्होंने इन लोगों की रक्षा की, इनका उद्धार किया, इनको अपना सखा बनाया।

भगवान् ने श्रीकृष्णावतार में जो घोषणा प्रकाशित की, जो सन्देशा लोगों को दिया वही रामावतार में भी प्रगट किया था किन्तु उसमें कुछ विशेषता थी। श्रीकृष्ण ने अपने दरबार को संकुचित कर दिया था। उनके दरबार में पुण्य के डिप्लोमा की आवश्यकता थी, जिसके पास पुण्य का डिप्लोमा नहीं

उसके लिए श्रीकृष्ण के क्रोध का वारापार नहीं, वे उसका नाश कर देंगे, वे उसे रहने नहीं देंगे, पर भगवान् रामचन्द्र के दरबार का नियम उतना कड़ा नहीं, इसमें पुण्यात्माओं के साथ कोई खास रियायत नहीं, सिर्फ भगवान की शरण जाने की आवश्यकता है। भगवान् राम के फाटक पर जाकर, मैं आपका हूं मैं आपकी शरण आया हूं यह कहने की आवश्यकता है। बस इतनी योग्यता काफी है, इसी से भगवान् रामचन्द्र रक्षा करने के लिए तैयार हो जायँगे, वे उसको अपना प्रिय बनायेंगे। उसको अभयदान देंगे क्योंकि उनका यही व्रत है, उनका यही प्रधान कर्तव्य है।

जब धर्म की हानि होती है, जब अधम अभिमानी असुरों की वृद्धि होती है, जब शास्त्रों की मर्यादा नष्ट हो जाती है, जब गौ ब्राह्मण सताये जाने लगते हैं, जब वेदों की निन्दा होने लगती हैं, जब गुरुओं की, पूज्यों की बातें हँसी में उड़ायी जाने लगती है, भगवान् के अवतार और विभूतियों का जब तिरस्कार होने लगता है और आध्यात्मिक तत्व डपोरशंखी के नाम से पुकारा जाने लगता है, तब पृथ्वी व्याकुल हो जाती है, पापियों का बोझ उसके लिए असह्य हो जाता है, और वह क्षीरशायी विष्णु भगवान् के पास अपना दुखड़ा सुनाने जाती है। विष्णु भगवान् से बढ़कर अनाथ दीन दुःखियों की रक्षा करने वाला दूसरा कोई नहीं, भगवान् विष्णु दीनों की रक्षा करने के लिए अपने सर्वस्व दे देने को तैयार रहते हैं। उसी प्रकार प्रायः भगवान् के अवतारों की कथा हमारे मान्य पुराण ग्रन्थों में लिखी है। भगवान् रामचन्द्र के अवतार के

पहले भी यहां भयानक उपद्रव हो गया था राक्षसों का बल बढ़ गया था। पराक्रमी राक्षस-राज रावण का शासन यहां के लोगों के लिए असह्य हो गया था। इन्द्र, वरुण, कुबेर, वायु आदि देवताओं को जीत कर उसने अपने यहां क़ैद कर लिया था और इनसे वह अपनी सेवा कराता था, ऐसी दशामें भला मनुष्यों की क्या शक्ति थी जो उसके सामने चूँ भी करें। जिन महर्षियों के धर्म बल के भय से बड़े बड़े पराक्रमी राजा डरते हैं, देवता आदि कांपा करते हैं, उनकी शक्ति भी रावण के प्रताप के सामने कुण्ठित हो गयी थी, उनका तपोबल भी अपने दुखों को दूर करने में असमर्थ हो गया था। ऋषि महर्षियों से रावण कर लेने लग गया था, पर ऋषियों के पास कर देने के लिए धन कहां। वे न तो व्यापार करें न नौकरी। पर रावण को कर चाहिए क्योंकि वे रावण के अधिकृत राज्य में रहते हैं। अतएव विवश होकर ऋषियों ने अपने अङ्गों से खून निकाल कर वही कर के रूप में रावण के तहसीलदार को दिया। कितना बड़ा उपद्रव है कितना अन्याय और अत्याचार है। यह पाप भगवान् से सहा नहीं जा सकता। पाप के बोझ से पृथ्वी डगमगाने लगी। उसी समय राजा दशरथ के घर भगवान् रामचन्द्र का अवतार हुआ। भगवान् रामचन्द्र के अवतार से लोगों के दुःख दूर हुए, अत्याचार दूर हुए। हिन्दू का कोई ऐसा ही अभागा बच्चा होगा जो रामचन्द्र का चरित न जानता हो।

मर्यादा रक्षा के लिए त्याग।

रामचन्द्र ने अपने कार्यों से और व्यवहारों से मर्यादा की स्थापना की। हमारे विचार में मर्यादा का अर्थ है समझौता। जीवन में समझौता करना आवश्यक हो जाता है। सर्दी और गर्मी दोनों की सीमा निश्चित करनी ही पड़ती है, बिना इन दोनों के समझौते के कोई फल नहीं होता। सीमा से अधिक गर्मी गर्मी नहीं कही जाती और सर्दी भी सीमा के भीतर ही उपयोगी है। यही बात जीवन के लिए भी है, हमारे जीवन में भी प्रकाश और अन्धकार की धाराएँ वहा करती हैं, जीवन के लिए हमें कभी प्रकाश और कभी अन्धकार में जाना पड़ता है। प्रकाश अच्छी वस्तु है इसमें किसी को सन्देह नहीं। अन्धकार अन्धकार ही है, वह बुराई की सीमा है, अज्ञान की खान है। मनुष्य का जीवन प्रकाश में ही होकर बीते, अन्धकार से उसका सम्बन्ध न होने पावे इसका कोई उपाय नहीं, जीवन के मार्ग तय करने में कभी प्रकाश का और कभी अन्धकार का सामना करना ही पड़ता है। ऐसी दशा में प्रकाश और अन्धकार में समझौते की कितनी आवश्यकता है, यह बात अनायास समझी जा सकती है। अन्धकार से बचने के लिए समझौता ही एक मात्र प्रधान उपाय है। और भगवान् रामचन्द्र ने अपने कार्यों के द्वारा इसी आवश्यक समझौते की संसार को शिक्षा दी है।

रामचन्द्र के जीवन की पहली और प्रधान घटना है ताड़का-वध। ताड़का राक्षसी थी, वह भयानक थी, स्त्री थी तौ भी उसकी

क्रूरता से लोग बेचैन थे, ऋषि मुनि तपस्या नहीं कर पाते थे, किसी के लिए यज्ञ करना कठिन हो गया था। विश्वामित्र को तो उसने बहुत ही सताया था, वे यज्ञ नहीं कर पाते थे। विश्वामित्र जब यज्ञ प्रारम्भ करते थे तभी ताड़का तथा उसके दल के दूसरे राक्षस विघ्न करने के लिए उपस्थित हो जाते थे, विश्वामित्र स्वयं शाप देकर उनका नाश कर सकते थे, पर महर्षि गण तपस्या भङ्ग होने के भय से शाप नहीं दिया करते थे। विश्वामित्र ने अनेक कष्ट उठाये, पर शाप न दिया। जब राक्षसों का अत्याचार असह्य हो गया तब वे अयोध्या के राजा दशरथ के यहां गये, राम और लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ आये। ताड़का को दिखाकर विश्वामित्र ने कहा यही राक्षसी है, इसी के उपद्रव से हम लोगों के याज्ञ यज्ञ क्रिया कर्म आदि लुप्त हो रहे हैं, राम, तुम इसका वध करो। विश्वामित्र रामचन्द्र के गुरू थे, विश्वामित्र से अस्त्र विद्या राम ने सीखी थी, विश्वामित्र उसी अपनी पढ़ाई विद्या के उपयोग के लिए कह रहे हैं। सामने स्त्री है, यद्यपि वह राक्षसी है, पर स्त्री तो है। रामचन्द्र सोचने लगे क्या करना चाहिए, गुरू की आज्ञा और राक्षसी का वध इनमें किसका त्याग किया जाय, क्या गुरू की आज्ञा के अनुसार स्त्री का वध करना चाहिए, अथवा स्त्री-वध का पातक देनेवाली गुरु की आज्ञा का ही तिरस्कार करना चाहिए। रामचन्द्र को उस समय इसी कठिन प्रश्न का उत्तर देना था। शास्त्रों की आज्ञा मानी जाय या गुरू की। रामचन्द्र ने दोनों ही की आज्ञा मानी, एक दूसरे से भिन्न मानी जाने वाली दो आज्ञाओं

का उन्होंने पालन किया। प्रधानता गुरू की आज्ञा को ही उन्होंने दी। रामचन्द्र ने ताड़का नाम की स्त्री का वध नहीं किया किन्तु उसके राक्षस भाव का, रामचन्द्र ने ताड़का के उस खूनी शरीर का नाश किया जो लोगों को दुःख देता था, सताता था, याज्ञ यज्ञ आदि नहीं करने देता था। उन्होंने उस शरीर का नाश किया जो स्त्री का था पर जिसके कार्य स्त्रियों के से न थे। गुरु की आज्ञा भी यही थी। गुरू ने ताड़का को मारने की आज्ञा दी थी क्योंकि वे भी यह जानते थे कि यह स्त्री होने पर भी वध करने के योग्य है। स्त्री होने के लिए शरीर और मन दोनों को स्त्री के अनुकूल होना चाहिए, अर्थात् बाहरी सौन्दर्य चिन्ह तथा भीतरी गुण दया आदि का होना स्त्री के लिए आवश्यक है, अतएव ऐसे स्थानों में अपनी जानकारी को महत्व न देना चाहिए, शास्त्र प्रमाण भी विशेष आवश्यक नहीं।

रामचन्द्र के जीवन की दूसरी प्रधान घटना वनवास की है। इस घटना में एक ओर रामचन्द्र का तथा पुरवासियों का सुख था और दूसरी ओर था राजा दशरथ का धर्म। विचार यह था कि क्या राजा दशरथ अपना धर्म इतने लोगों के सुख के लिए छोड़ें या राम अपना तथा पुरवासियों का सुख पिता के धर्म के लिए छोड़ें। रामचन्द्र ने दूसरे ही मार्ग का अनुसरण किया, उन्होंने स्वयं दुःख उठाया और पुरवासियों को भी दुःख उठाने के लिए लाचार किया और यह सब किया पिता के धर्म की रक्षा के लिए। धर्म और सांसारिक सुख इन दोनों में जहां विरोध हो, जहां प्रति-

द्वन्द्विता हो वहां धर्म को ही प्रधानता देनी चाहिए, व्यक्ति विशेष की भी धर्म रक्षा के लिए समूह का सुख त्यागा जाना चाहिए, धर्म की प्रधानता है सांसारिक सुख की नहीं।

तीसरी घटना है वन परिभ्रमण तथा वनवास की। रामचन्द्र वन में सुख पूर्वक रह सकते थे। पर वैसा रहना उन्हें इष्ट नहीं था। रामचन्द्र का वन में वही वेष था जो ऋषि महर्षियों का होना चाहिए, रामचन्द्र का वही हृदय था जो वनवासियों का होना चाहिए। रामचन्द्र वन में रहे और उन्होंने सदा दुर्वलों का पक्ष लिया, दुर्वलों को आश्रय दिया, तिरस्कृतों को सम्मानित किया।

रामचन्द्र भगवान के अवतार थे, वे अपनी इच्छा के अनुसार जैसा चाहते वैसा कर सकते थे, उन्हें अयोध्या जनकपुर आदि राज्यों से सहायता मिल सकती थी। वनवास के समय रामचन्द्र को सहायता की ज़रूरत भी पड़ी, सीता हरी गयी थी, प्रतिद्वन्दी था—त्रिलोक विजयी रावण, सीता के लिये तथा अपने सम्मान के लिए रावण का सामना करना उससे युद्ध करना तथा युद्ध में उसे धराशायी वनाना रामचन्द्र के सर्व प्रधान कार्य थे, और इन कार्यों के लिए वनवासी राम को किसी की सहायता अपेक्षित थी। रामचन्द्र ने वह सहायता ली भी, पर अपने उपकृत सुग्रीव की सहायता उन्होंने ली, अयोध्या की शिक्षित सेना की अपेक्षा सुग्रीव की वानरी सेना ही उस समय राम को अधिक उपयोगी प्रतीत हुई। इस आचरण के द्वारा रामचन्द्र ने बतलाया कि किसी की सेवा में, चाहे वह भरत के समान अनुगत ही क्यों न हो प्रार्थी वनकर मत जाओ

संसार में प्रार्थी का आदर नहीं होता। अतएव रामचन्द्र ने प्रार्थना का मार्ग त्याग दिया और उस मार्ग को ग्रहण किया जो सफलता का है। रामचन्द्र ने सहायता ली, पर उससे जिसका वे उपकार कर चुके थे। रामचन्द्र को हक़ था कि वे सुग्रीव को अपनी आज्ञा के पालन करने के लिए बाध्य करें और रामचन्द्र ने वही किया।

इसी प्रकार अन्य घटनाएँ भी रामचन्द्र की अनुपम वीरता बतलाती हैं। कई प्रसङ्ग ऐसे आये हैं जहां रामचन्द्र के आचरण अच्छे नहीं जँचते, उन प्रसङ्गों में रामचन्द्र को भी उन आचरणों से कष्ट भोगना पड़ा था पर रामचन्द्र ने वैसा ही किया और सो भी जान बूझ कर। इसका एक ही अर्थ है, और वह यह कि रामचन्द्र का जीवन समझौते का जीवन है। कहीं वह प्रकाशमय है और कहीं अन्धकारमय। किसी घटना के प्रकाशमय हिस्से को देखकर पाठक प्रसन्न होते हैं और किसी घटना के अन्धकार मय भाग को देखकर कभी पाठक दुःखी होते हैं, कोई कोई राम प्रेमी भक्त उनके आदर्श भावों को न समझ कर उन ठीक न जंचने वाले प्रसङ्गों का तरह तरह की युक्तियों द्वारा समर्थन करते हैं। भगवान रामचन्द्र का जीवन एकाङ्गी न था, वह सीधी लकीर पर समान भाव से दौड़ने वाला न था, वह चेतन था, उसमें विचारों की क्रान्तियां हुई हैं, उसके कार्यक्रम वदले हैं, पर यह सब जीवन के लिए नहीं हुआ है किन्तु सिद्धान्त के लिए हुआ है। रामचन्द्र अपने जीवन को सुखमय वनाना नहीं चाहते थे, क्योंकि इसकी उन्हें ज़रूरत न थी, उनका जीवन सुख का था, और वह पूर्ण था,

वहां सुख दुःख का प्रश्न ही न था। रामचन्द्र के सामने आदि से अन्त तक एक ही प्रश्न था और वह सिद्धान्त का। रामचन्द्र ने अपने प्राणों से प्रिय सीता का त्याग किया, स्वयं रामचन्द्र का सीता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं था फिर भी उन्होंने उनका त्याग किया, यह त्याग क्यों किया यह बात सब लोग जानते हैं। यदि रामचन्द्र सीता का त्याग न करते तो लोक और परलोक कहीं भी उनकी कोई हानि न होती, स्वयं उनको कोई कष्ट भी भोगना न पड़ता। यह सब होने पर भी रामचन्द्र ने सीता का त्याग किया, जीवन के लिए नहीं किन्तु सिद्धान्त के लिए, और वह सिद्धान्त था "वीर व्रत", स्वयं कष्ट उठाना पर लोकाराधन करना, प्रजामत का आदर करना।

रामचन्द्र के आदर्श जीवन के सम्बन्ध में यहां पूरा पूरा नहीं लिखा जा सकता, अतएव मैं कुछ सामग्री अपने मित्रों के सामने रखता हूं, इससे वे और भी बहुत सी बातें सोच विचार सकते हैं, और इस नये युग में भी 'जीवन के लिये सिद्धान्त नहीं किन्तु सिद्धान्त के लिए जीवन है', यह बात प्रमाणित कर सकते हैं।

महावीर अर्जुन

चंद्रवंशी महाराज पाण्डु की साध्वी महारानी कुन्ती के गर्भ से यह उत्पन्न हुए थे। कुन्ती के तीन पुत्रों में ये सब से छोटे थे। ये महर्षि दुर्वासा के मन्त्र-प्रभाव से इन्द्र के अंश से द्वापर युग के अन्त में उत्पन्न हुए थे। वीर अर्जुन और श्रीकृष्ण "नर नारायण" के अवतार माने जाते हैं। धनुषधारी अर्जुन की अङ्ग-कान्ति श्याम थी, आकृति दीर्घ, ऊंचे कन्धे, विशाल वक्षस्थल और नेत्र कमलपत्र के समान थे। गुरु द्रोणाचार्य के निकट धनुर्विद्या का अभ्यास करके ऐसी निपुणता इन्होंने पायी थी कि गुरु भी अत्यन्त प्रसन्न हो गये और उन्होंने ब्रह्माण्ड को लय करनेवाला ब्रह्मशिरा नामक अस्त्र अर्जुन को प्रदान किया। अर्जुन की धनुर्विद्या सब प्रकार की युद्ध कला में उनकी प्रवीणता बतलाती थी। ये रण में चतुर, धीर, परमोत्साही, विजयी और प्रतापी योद्धा थे। स्पष्ट वक्ता थे, कोमल हृदय के थे, बड़े बड़े लाभों को भी मर्य्यादा की ओर देख कर छोड़ देते थे। सत्यवादी, वीर, गौ ब्राह्मण प्रतिपालक, प्रतिज्ञा-पालक, व्यावहारिक विषयों में चतुर, अल्पनिद्र, चतुर, नृत्य संगीत में कुशल और बाण चलाने में प्रवीण, धार्म्मिक, नीतिवान् और ईश्वरोपासना आदि धर्म के नियम पालने वाले थे। द्रोणाचार्य ने अपनी गुरु-दक्षिणा में पांचाल प्रदेश के राजा द्रुपद को दण्ड देने का

अपना अभिप्राय पाण्डव और कौरवों से कहा। कौरव लोग द्रुपद से युद्ध करने गये। पीछे द्रुपद से परास्त होकर वे लौट आये। तब अर्जुन अपने पराक्रम से युद्ध कर द्रुपद को द्रोणाचार्य की शरण में ले आये। इसके उपरान्त अनेक राजाओं को अर्जुन ने परास्त कर हस्तिनापुर में प्रभुत्व स्थापित किया।

लाक्षागृह से सकुशल बच कर पीछे पाण्डवों ने वनवास किया। अर्जुन ने एक अंगारपर्ण नामक गन्धर्व को युद्ध करके हरा दिया। उससे इन्होंने "सूक्ष्मपदार्थ-दर्शक चाक्षुषी-गन्धर्वास्त्र" विद्या सीखी और उसे अग्न्यस्त्र विद्या सिखायी। द्रौपदी के स्वयंवर में जाकर मत्स्यवेध किया, जिससे द्रौपदी ने जयमाल पहनाया। यह देख कर दूसरे राजा लोग क्रोध से युद्ध के लिए सामने आये। किन्तु अर्जुन ने बाणों से और भीमसेन ने वृक्ष के मोटे तने से सब राजाओं को मारकर बात की बात में भगा दिया। फिर द्रौपदी का पाणिग्रहण पांचों भाइयों ने किया।

महाराज धृतराष्ट्र ने लोकलाज से पाण्डवों को सम्मानपूर्वक विदुर के द्वारा बुलवा कर आधा राज्य देकर इन्द्रप्रस्थ में रखा। आनन्दपूर्वक पाण्डव गण वहां रहने लगे। एक समय एक ब्राह्मण अर्जुन के पास रोता हुआ आया और बोला "महाराज, मेरी सवत्सा धेनु चोर लिये जा रहे हैं, आप रक्षा कीजिए। यह सुनते ही अर्जुन शीघ्रता से अपनी चित्रशाला में धनुष बाण लेने गये। वहां युधिष्ठिर और द्रौपदी एकान्त में शयन करते थे। उन्हें देख तुरन्त ही अपने भाइयों के बीच की प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया।

उन्होंने ब्राह्मण की गाय छुड़ाकर ला दी और वे स्वयं बारह वर्ष वनवास करने को निकले। धर्मराज ने उन्हें बहुत समझाया, किन्तु अर्जुन ने कहा कि-"मैं अपनी प्रतिज्ञा का भंग न करूंगा।" यह कह कर वे तीर्थाटन को चल दिये।

प्रथम गंगाद्वार आये और पुण्यतोया जाह्नवी का दर्शन करके लौटे। लौटती समय उलूपी नामकी नाग-कन्या के आग्रह से उसके साथ गान्धर्व-विवाह किया। उस स्त्री से इरावान नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वहां से चलकर अर्जुन वद्री केदार आये, दर्शन कर हिरण्यवन्धु तीर्थ किया। पश्चिम में नैमिषारण्य तपोभूमि का वन्दन कर पीछे अङ्ग वङ्ग आदि देशों को देखा। दक्षिण में माहेन्द्र पर्वत देखते हुए समुद्र तट पर आये। मणिपुर नगर के राजा चित्रवान की कन्या चित्राङ्गी के साथ विवाह किया और वहां तीन वर्ष रहे। चित्राङ्गी के क्षेत्र से अर्जुन के वभ्रुवाहन नामक पुत्र हुआ। उसे चित्रवान राजा को सौंप वहां से अर्जुन विदा हुए।

मणिपुर से चलकर अर्जुन दक्षिण समुद्र के किनारे सौभद्र, पौलोम, अगस्त्य, कारंधम और भारद्वाज नाम के पांच नारी तीर्थों में गये। उन तीर्थों को जनशून्य देखकर उन्होंने ऋषियों से कारण पूछा। ऋषियों ने कहा, प्रत्येक तीर्थ में एक एक मगरी रहती है जो स्नान करनेवालों को मार डालती है। इसी भय से कोई तीर्थों में नहीं आता। यह सुनकर अर्जुन निर्भय उन तीर्थों में गये, और जैसे ही सौभद्र तीर्थ में स्नान करने उतरे, वैसे ही मगरी ने पकड़ा। अर्जुन पहले से ही सावधान थे, सो अपने पराक्रम से मगरी को

जल से बाहर खींच लाये। जल के बाहर होते ही मगरी एक दिव्य स्त्री हो गयी। अर्जुन ने उससे इसका कारण पूछा तो उसने कहा—"महाराज, मैं कुबेर की सभा की अप्सरा हूं। मेरा नाम वर्गा है। एक दिन सुन्दर सुगंधमय वायु बह रहा था, उस समय मैं अपनी चार सखियों को साथ लेकर आनन्दपूर्वक अरण्य में गा बजा रही थी। वन में एक ऋषि-पुत्र अध्ययन करते हुए गुप्त रूप से रहते थे यह मुझे मालूम नहीं था। हम लोगों के गाने बजाने से उनके अध्ययन में बाधा पड़ी, जिससे क्रोध में आकर हम लोगों को उन्होंने शाप दिया—तुम सब जल में जाकर मगरी हो जावो।" शाप सुन कर हम सब ने ऋषिपुत्र की बहुत ही प्रार्थना की, और शापोद्धार का उपाय पूछा। तब दयाकर उन्होंने कहा कि—"आज से सौ वर्ष के उपरान्त किसी महापुरुष के स्पर्श से उद्धार पाकर स्वलोक को प्राप्त होओगी। महात्मा के वचन के प्रमाण से आज सौ वर्ष के उपरान्त आपकी दया से मेरा उद्धार हुआ और मैं स्वरूप को प्राप्त हुई हूँ। अब आप कृपाकर मेरी अन्य सखियों का भी उद्धार कीजिए जो शाप वश इन तीर्थों में जलजीव होकर पड़ी हैं। यह सुनकर अर्जुन ने प्रत्येक तीर्थ में स्नान कर सब का उद्धार किया। पांचों अप्सराएं अर्जुन की स्तुति कर अपने लोक को चली गयीं। तब से उन तीर्थों में सब लोग पुनः निर्भय स्नान करने लगे।

अर्जुन वहां से चल कर शिवकांची, विष्णुकांची का दर्शन करते हुए काम्यवन में आये। यह शिव का अनुष्ठानस्थल था,

अर्जुन ध्यानस्थ होकर वहां बैठे। शिव आये और कोपायमान हो गये। अर्जुन और शिव में युद्ध हुआ, अर्जुन ने अपने पराक्रम से मारे बाणों के शिव को मूर्च्छित कर दिया। अर्जुन की युद्ध चातुरी देखकर शिवजी अत्यन्त प्रसन्न हुए, अर्जुन की प्रशंसा कर उन्होंने दिव्य कवच और कुण्डल दिये। वहां से अर्जुन रामेश्वर पहुँचे, दर्शन कर हनुमानजी से रामचरित्र सुना। अर्जुन ने हंसकर कहा कि जब रामचन्द्र में इतना पराक्रम था तो अपने बाणों से सेतु क्यों नहीं बांध दिया? हनुमान ने कहा कि अब बांध कर देख लो। यह सुन कर अर्जुन ने अपने पराक्रम से बाणों का एक योजन तक पुल बांध दिया और कहा कि कोई इसे तोड़ दे तो मैं अग्नि में प्रवेश करूंगा। हनुमान ने कहा कि यदि मैं इसे न तोड़ूँ तो तुम्हारी ध्वजा पर रह कर तुम्हारे अधीन रहूंगा। यह कह कर हनुमान तड़प कर कूदे। सेतु मचक कर रह गया। अर्जुन उसे टूटा समझ कर काष्ट संचय करने लगे और अग्नि लगाकर उसमें प्रवेश करने के लिए उद्यत हुए। उसी समय श्रीकृष्ण ब्राह्मण का रूप धारण कर प्रकट हुए, और हनुमान से बोले, तुम्हारे इस बात का साक्षी कौन है कि तुमने सेतु तोड़ा? हनुमान फिर उस सेतु को तोड़ने के लिए उद्यत हुए किन्तु श्रीकृष्ण ने अपना सुदर्शन चक्र उस सेतु के नीचे रख दिया जिससे सेतु न टूटा। तब श्रीकृष्ण ने कहा तुम अपने प्रतिज्ञानुसार अर्जुन के रथ की ध्वजा पर विराजमान होकर अर्जुन की सहायता करो। दोनों का समाधान कर वे अन्तर्धान हो गये।

वहां से चलकर अर्जुन द्वारकापुरी में आये। श्रीकृष्ण की सहायता से सुभद्रा का हरण कर उन्होंने उससे विवाह किया। उपरान्त अनेक तीर्थ करके बारह वर्ष व्यतीत कर इन्द्रप्रस्थ आये और अपने चारों भाइयों से मिले। द्रौपदी ने सुभद्रा को अपनी छोटी बहिन के समान आदरपूर्वक अपने पास रखा। समय पाकर सुभद्रा से अभिमन्यु नामक पुत्र और द्रौपदी से श्रुतवर्मा नाम का पुत्र अर्जुन के हुए।

एक समय ग्रीष्म ऋतु में अर्जुन, श्रीकृष्ण, सुभद्रा, द्रौपदी आदि सब लोग यमुना किनारे बन में बैठे थे। उस समय अग्निदेव ब्राह्मण का रूप धारण कर अर्जुन के पास आये और बोले—मुझे खाण्डव बन भक्षण करने को दो और उन्होंने यह भी कहा कि तुम्हें इन्द्र के साथ युद्ध करना पड़ेगा। यह सुन अर्जुन ने कहा कि मेरे पास देवताओं से युद्ध करने योग्य अस्त्र शस्त्र तो है पर धनुष और रथ नहीं है। अग्नि ने पाताल में जाकर वरुण से गाण्डीव धनुष अक्षय भाथा और विजय नामक रथ लाकर अर्जुन को दिया।

अर्जुन श्रीकृष्ण दोनों रथ पर बैठ कर अग्नि के साथ खाण्डव बन को गये। अग्नि ने खाण्डव बन भक्षण करना आरम्भ किया। अर्जुन उनकी रक्षा करने लगे। इन्द्र ने जितने दैत्य, दानव, गन्धर्व, यक्ष आदि भेजे अर्जुन ने सब को मार डाला। मायासुर अर्जुन की शरण में आया। अर्जुन ने भी उसे अभय दान दिया। देखते देखते अग्नि देव तृप्त हो गये। पीछे से इन्द्र भी आये। अर्जुन और श्री कृष्ण ने उनकी बहुविधि स्तुति की।

कुछ समय के उपरान्त अर्जुन श्रीकृष्ण और भीमसेन तीनों ब्राह्मण का रूप धारण कर जरासंध के पास गये और उससे युद्ध की याचना की। जरासंध भीमसेन के साथ युद्ध में मारा गया। श्रीकृष्ण की सम्मति से धर्मराज ने राजसूय यज्ञ करने का बिचार किया। चारो भाई धन रत्न लाने के लिए चारो दिशाओं को गये। अर्जुन उत्तराखण्ड गये और जिस प्रकार उन्होंने दिग्विजय किया वह नीचे बताया जाता है।

अर्जुन इन्द्रप्रस्थ से चलकर उत्तर दिशा की ओर चले। कुलिन्द, आनर्त, कालकूट, अपरवतर और सुमंडल इन देशों को जीतकर वहां के राजाओं से कर लिया। वहां से चलकर शाकलद्वीप के राजा प्रतिविन्ध्य के साथ घोर युद्ध किया; अन्त में उसे भी परास्त करके कर वसूल किया और उसे अपने साथ ले लिया। वहां से अर्जुन प्राग्ज्योतिषपुर आये। राजा भगदत्त के आश्रय में रहने वाले किरात चीन आदि प्रदेशों के राजा अर्जुन से युद्ध करने लगे। आठ दिन घोर युद्ध हुआ; अन्त में भगदत्त को अर्जुन ने परास्त किया और उन राजाओं से कर लिया। वहां से अर्जुन पुनः उत्तर बढ़े, फिर अन्तर्गिरि पर्यन्त समस्त राजाओं को जीतकर उनसे कर लिया। सब राजा अर्जुन को प्रसन्न करने के अर्थ अपनी अपनी सेनाएँ लेकर अर्जुन के साथ हो लिये। वहां से चलकर अर्जुन उलूक प्रदेश के राजा वृहन् के राज्य में आये। पर्वतवासी राजाओं ने जो सुना कि अर्जुन आये हैं तो सब उनसे युद्ध करने आए, किन्तु अर्जुन ने सब राजाओं को परास्त कर उनसे कर लिया।

पीछे सेनाविन्दु, वामदेव और सुदामा आदि सब राजाओं को जीता और उनसे कर वसूल किया। वहां से चलकर उपर उलूक देश मंच गण देश और देवप्रस्थ देश को जीता। सेनाविन्दु राजा को पौरवेश्वर (पारस-इरान) राजा को और विश्वगज राजा को तथा पर्वतवासी दस्युराज, उत्सव संकेत सतगण आदि समस्त राजाओं को परास्त कर उनसे राज कर लिया, उसके उपरान्त काश्मीर, दशामांडलीक राजा और लोहित देश, त्रिगर्त देश, दार्व देश, कोकरनर देश इन सब राजाओं को जीता। समस्त राजाओं को अधीन कर अर्जुन आगे बढ़े। वहां अभिसार नगर के चित्रसेन राजा, उत्तर सुम्ह और उत्तर चोल देश के समस्त राजाओं को जीता और उनसे कर लिया। पीछे महाशूर, वाल्हीक राजा को अधीन किया। इसके बाद काम्बोज देश के सहित दरद देश के रहने वाले समस्त राजाओं को जीत कर अर्जुन ईशानकोणकी तरफ बढ़े। वहां दस्युराज को जीता। पीछे पीछे लोह देश वासी और परम कांभोज देश को जीत कर उत्तर तरफ ऋषीक-एशिया के राजा को जीतकर शुकोदर और मयूर सरीखे तेज चलने वाले घोड़े वहां से कर में लिये। पीछे हिमालय पर के देश जीतकर अर्जुन श्वेत पर्वत को अतिक्रम करके किंपुरुष देश में गये। वहां द्रुम पुत्रों को जीता और उनसे कर लिया। हाटक देश जीतकर मानसरोवर को गये। वहां ऋषि मुनियों को तथा नदियोंको देखते हुए गंधर्वों के देश में गये और वहां गंधर्वों को जीता। उनसे कर में शीघ्रगामी चित्र-विचित्र रंग के अश्व लेकर हरिवर्ष में गये। वहां

के अति बलवान मनुष्यों को जीतकर उनसे कर लिया। उपर्युक्त प्रदेशों को जीत कर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ में आये। उन्होंने धर्मराज के सामने अपनी जीत का समस्त द्रव्य रख दिया।

राजसूय यज्ञ समाप्त हुआ। दुर्योधन पाण्डवों के ऐश्वर्य को देख नहीं सका। उसने कपट-युद्ध में युधिष्ठिर को बुलाकर उनका सर्वस्व हरण कर लिया। पाण्डव लोग तेरह वर्ष के लिये वन में गये। वहां व्यासजी ने आकर सब लोगों को उपदेश किया और अर्जुन से कहा तुम तीर्थाटन करो, तुम्हें लाभ होगा। यह सुन अर्जुन सब से बिदा होकर हिमालय पर्वत के इन्द्रकील शिखर पर गये और वहां तप करने लगे। अर्जुन ने पहले तो वृक्षों के पत्ते खाकर घोर तप करना आरम्भ किया। दूसरे मास से केवल जल पान कर तप किया। तीसरे महीने धूम्र पानकर, चौथे मास वायु भक्षण कर, इसी प्रकार अर्जुन ने अपने शरीर का समस्त भार एक अंगुष्ठ पर रखकर घोर तप में ध्यान दिया। शिव ने मूक नाम के एक दैत्य से कहा कि तू शूकर रूप से जाकर अर्जुन की तपस्या भंगकर। अर्जुन ने गांडीव से उसे मार डाला। शिवजी पीछे से किरात का रूप धर कर अर्जुन के निकट गये और बोले। तुम ने मेरे वन में मेरे शिकार वराह को कैसे मार डाला ? अर्जुन ने भी यथोचित उत्तर दिया। दोनों में बात ही बात में युद्ध आरंभ हुआ। अर्जुन ने अनेक वाण मारे, किन्तु सब बेकाम हो गये। तब गाण्डीव से अर्जुन मारने लगे। शिव ने हाथ पसार कर अर्जुन को पकड़ लिया। तब अर्जुन मल्लयुद्ध करने लगे। उसमें शिव के

आघात से अर्जुन मूर्छित हो गिर पड़े। अर्जुन की युद्ध-चातुरी और साहस देखकर शिवजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और प्रत्यक्ष होकर उन्होंने दर्शन दिया। अर्जुन ने शिव की स्तुति की। शिवजी ने शाबासी देकर अपना "पाशुपत" नामक महाशस्त्र दिया और कहा "जाओ, युद्ध में तुम्हारी विजय होगी।" इसके बाद यम, वरुण, कुबेर आदि देवताओं ने प्रसन्न होकर अपने अपने अस्त्र-शस्त्र दिये। फिर इन्द्र ने आकर अर्जुन को दर्शन दिया और वे कह सुन कर उन्हें स्वर्ग ले गये। वहां पांच वर्ष अर्जुन रहे और नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, वाद्य, संगीत-शास्त्र, नृत्यविद्या आदि समस्त विद्याएँ सीखी। निपात कवच, कालकेत और हिरण्यपुर-वासी ये तीन असुर इन्द्र से जीते नहीं जाते थे। उन्हें अर्जुन ने इन्द्र के रथ पर चढ़कर युद्ध में जीता।

एक दिन अर्जुन के बल-विक्रम पर उर्वसी मुग्ध हो गयी। एकान्त में अर्जुन के पास वह आयी और उसने अपनी इच्छा प्रकट की। अर्जुन ने कहा तुम मेरी माता के समान हो। इस पर उर्वशी ने शाप दिया कि तुम नपुंसक होकर स्त्रियों में वास करोगे। अर्जुन ने इन्द्र से शाप की बात कही। तब इन्द्र ने एक वर्ष के लिये शाप की अवधि कर दी और कहा—पुत्र, तुम किसी बात की चिंता मत करो। तुम्हें एक वर्ष गुप्त वास करना है। वहां यह शाप काम आवेगा। इससे तुम्हारा उपकार ही होगा। पीछे इन्द्र से विदा हो वे वन में भाइयों से मिले।

दुर्योधन उनके वैभव देखने के लिये और पाण्डवों को छलने

के लिये उनके आश्रम में आया था। मार्ग में गन्धर्वों से युद्ध हुआ। गन्धर्वों ने उसे पकड़ लिया। वहां कौरवों के किसी आदमी ने युधिष्ठिर के पास जाकर विनती की। युधिष्ठिर ने अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव को युद्ध के लिये भेजा। चारों भाइयों ने जाकर चित्रसेन गन्धर्व से दुर्योधन को छुड़ाया। एक समय पाण्डव मृगया को गये थे। उस समय जयद्रथ द्रौपदी को अकेली पाकर हरण कर भागा जाता था। अर्जुन और भीम ने उसे पकड़ कर धर्मराज के सामने खड़ा कर दिया। युधिष्ठिर ने छुड़वा दिया। तेरहवें वर्ष पाण्डव विराट राजा के यहां छिपे रहे। वहां अर्जुन बृहन्नला नाम धारण कर अन्तःपुर में स्त्रियों को नृत्य-गीत सिखाया करते थे। कौरवगण पाण्डवों को तेरहवें वर्ष अत्यन्त परिश्रम से खोजने लगे, जिसमें पुनः उन्हें तेरह वर्ष का वनवास देने की सुविधा मिले। जब से पाण्डव विराट नगर में आये थे, तब से अनेक उत्पात वहां हुए। कौरवों ने सन्देह से अनुमान बांधा कि पाण्डव वहीं होंगे तो वहां की गायों को वे हरण करने नहीं देंगे। यह सोच कर विराट नगर को घेर कर गाय हरण कर ले चले। परन्तु अर्जुन ने शमी वृक्ष पर से अपना गाण्डीव धनुष लेकर उत्तर को सारथी बना कौरवों को हरा गायें छीन लीं। उस समय पाण्डव प्रकट हो गये। तेरह वर्ष व्यतीत हो गये थे। कौरवों की कुछ न चली। विराट राजा ने पाण्डवों का उपकार मान कर क्षमा मांगी। उत्तरा का विवाह अर्जुन के साथ करना चाहा, परन्तु अर्जुन ने उसे शिक्षा दी थी इसलिये अपने पुत्र अभिमन्यु के साथ उसका विवाह करा दिया।

अर्जुन युद्ध के प्रसंग में श्रीकृष्ण से बोले, हे सखा, ये हमारे बड़े लोग गुरु आदि सम्मुख खड़े हैं अपने संबन्धियों को कैसे मारूँ। यह कह कर वे एक दम मोह से मूर्च्छित हो गये। यह देख श्रीकृष्ण ने मोह को भंग करने के लिये गीता का उपदेश दिया। तब अर्जुन युद्ध के लिये तैयार हुए। दस दिन तक भीष्म के साथ युद्ध कर कौरवों के अनेक वीरों को उन्होंने मारा। भीष्म युद्ध में धराशायी हुए। कौरव और पाण्डव उनके पास गये। तब उन्होंने अपने लटकते हुए मस्तक के बीच लगाने को कोई सिरहाना मांगा। कौरवगण सुन्दर तकिये ले आये। यह देख भीष्म ने उसे अस्वीकार कर अर्जुन से कहा। अर्जुन ने तीन बाण बेधकर उन्हें सिरहाना दिया। पीछे जल मांगा। तब अर्जुन ने एक बाण मार कर पाताल-गंगा की धारा लाकर भीष्म के मुख में डाली। उससे वह स्थल बाण गंगा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अर्जुन ने महाभारत की लड़ाई में बड़ा पराक्रम किया था। अन्त में कौरवों का नाश हुआ और पाण्डवों की विजय हुई।

युधिष्ठिर ने कौरवों को जीत कर अश्वमेध यज्ञ किया, अश्वमेध के लिये उन्होंने अश्व छोड़ा। उसकी रक्षा के लिये अर्जुन गये। अनेक प्रदेशों के राजाओं ने अश्व को बांधना चाहा। परन्तु अर्जुन ने सब राजाओं से युद्ध कर उन्हें पराजित किया। अश्वमेध यज्ञ के अग्निकुण्ड की रक्षा करने का काम अर्जुन को सौंपा गया था। यज्ञ पूर्ण होने के बाद सब राजाओं ने अर्जुन के पराक्रम की प्रशंसा की।

युधिष्ठिर राज्य करने लगे। अर्जुन सेनापति का कार्य उत्तम रूप से चलाने लगे। अपने उत्तम आचार व्यवहार से मनुष्यों को इन्होंने मुग्ध कर दिया था। थोड़े काल के उपरान्त श्रीकृष्ण स्वधाम को चले गये। तब अर्जुन को इतना दुख हुआ, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अत्यन्त धैर्य रखकर द्वारका गये। श्रीकृष्ण निजधाम जाते समय अर्जुन को जो कुछ कह गये थे, उसके अनुसार अर्जुन द्वारका से उग्रसेन, वसुदेव और श्रीकृष्ण के कुटुम्ब की सब विधवाओं को साथ लेकर समस्त धन धान्य के साथ हस्तिनापुर आये। श्रीकृष्ण के पौत्र वज्र को इन्द्रप्रस्थ की राजधानी और अपने पौत्र परीक्षित को हस्तिनापुर का राज्य सौंप कर अपने चारों भाइयों के साथ हिमालय पर जाकर उन्होंने स्वर्लोक प्रस्थान किया।

धनुषधारी अर्जुन रणचतुर और युद्ध कला में अत्यन्त कुशल थे। धनुर्विद्या तो उनकी निज की थी जिसे अपने उद्योग से उन्होंने बढ़ाया था। उनका अपने बड़े भाइयों के प्रति सर्वदा भक्ति पूर्ण व्यवहार रहता था। कितनी ही विजय उन्होंने श्रीकृष्ण की सहायता से कीं और कितनी ही अपने पराक्रम से। वे अपनी बुद्धि, बल, उत्साह और धनुर्विद्या की प्रवीणता से ही संसार में प्रख्यात हुए थे। आज तक भी लोग अर्जुन का नाम प्रातःस्मरणीय की भांति लिया करते हैं। यह क्या उनकी कम महत्ता है?

अर्जुन महावीर थे। वे प्रधान नहीं थे। उनकी वीरताने जो सफलता पायी, अर्जुन ने अपने पराक्रम से जो साम्राज्य स्थापित

किया उसके सम्राट् वे न थे, उसके वे भोक्ता न थे, अतएव इनके नाम पर कवियों के काव्य न मिलेंगे, "अर्जुन विजय" काव्य नहीं बना है, पर युधिष्ठिर विजय में भी—युधिष्ठिर की सफलता में भी—अर्जुन का पराक्रम स्पष्ट दिखायी पड़ता है। युधिष्ठिर ने जो साम्राज्य स्थापित किया वह किसके बल पर? मनुष्य दुर्लभ जो सभा राजा युधिष्ठिर को मिली उसका सच्चा अधिकारी कौन? कौरव-सेना का नवयुवक वीर कर्ण किसके पराक्रम से ईर्ष्या करता था? पाण्डवों में वह कौन था जिसके पराक्रम के भरोसे भीष्म द्रोण आदि पाण्डवों के विजयी होने की कामना किया करते थे? इन सब प्रश्नों का उत्तर एक ही है, और वह है अर्जुन का नाम। पाण्डवों का इतिहास अर्जुन के पराक्रम का इतिहास है, युधिष्ठिर की सफलता की नींव अर्जुन का पराक्रम है। समस्त महाभारत पढ़नेवाले अर्जुन की वीरता का ही प्रधानतः उसमें परिचय पाते हैं। जब राजकुमारों की परीक्षा होती है, तब वहां अर्जुन की ही प्रधानता रहती है, गुरु दक्षिणा देने के समय अर्जुन ही सफल मनोरथ होते हैं, वे ही गुरु की मांगी दक्षिणा लाते हैं, वे ही राजा द्रुपद को पकड़ कर गुरु के सामने उपस्थित करते हैं। द्रौपदी के स्वयम्बर के समय अर्जुन ही सर्वप्रधान ठहरते हैं और लक्ष्यवेध करनेवाला अर्जुन है यह बात किसी को मालूम भी नहीं होती। महाभारत के युद्ध में कौरव और पाण्डव दोनों दल के वीर अर्जुन की ओर देखते हैं, कौरव चाहते हैं कि अर्जुन अपनी सेना से बिछुड़ कर दूर भेज दिये जायं, जिससे पाण्डवीय

सेना का अच्छी तरह संहार किया जा सके। पाण्डवीय सेना के वीर चाहते हैं कि अर्जुन हम लोगों से दूर न जाने पावें, भीष्म द्रोण आदि वीरों का सामना करनेवाले वीर भी अर्जुन की सहायता चाहते थे। इन बातों को ध्यान से देखने पर अर्जुन महावीर थे यह बात माननी ही पड़ती है।

अर्जुन सम्राट् नहीं थे। इन्होंने कोई साम्राज्य स्थापित नहीं किया। ये स्वाधीन नहीं थे। किन्तु अपने बड़े भाई के अनुयायी थे. बड़े भाई की आज्ञा का पालन करना इनका धर्म था, बड़े भाई की इच्छा का अनुवर्तन करना इनका कर्त्तव्य था। सो इन्होंने किया भी। राजा युधिष्ठिर की इच्छाओं का पालन करना, चाहे वे उचित हों वा अनुचित हों, अर्जुन के जीवन का प्रधान कर्त्तव्य रहा है। इसी कारण अन्य वीरों के समान अर्जुनकी वीरता स्फुटित नहीं हुई है।

जीवन की कठिनाइयां ही मनुष्य के गुणों को विकसित करती हैं। कठिनाइयों को दूर करने के लिये जो उपाय काम में लाये जाते हैं, और उन उपायों में जो सफलता मिलती है. वही मनुष्य की महत्ता है। कठिनाइयों के सामने सिर झुकानेवाले सदा के लिए झुक जाते हैं, उनके बल का, पराक्रम का दुनिया को कुछ भी पता नहीं चलता, पर जो कठिनाइयों का सामना करते हैं, उनको दूर करने के लिए उपाय काम में लाते हैं और वे सफल होते हैं वे ही महान् हैं। अर्जुन के जीवन में इस प्रकार का अवसर नहीं आया। इसका यह अर्थ नहीं है कि इनके जीवन में कठि-

नाइयां न आयीं। कठिनाइयां इनके जीवन में भी आयीं जैसे वे दूसरों के जीवन में आती हैं, पर उनके फलाफल का दायित्त्व अर्जुन पर नहीं था, अर्जुन अपने बड़े भाई के अधीन थे, दुःख-सुख भलाई-बुराई बड़े भाई को थी, अर्जुन का कर्तव्य था अपने बड़े भाई की आज्ञा का पालन करना, सो इन्होंने किया। अर्जुन ने भी कठिनाइयों को दूर किया, पर वे कठिनाइयां इनकी न थीं, उनके दूर करने के उपाय इनके न थे। कठिनाइयां दूसरे की, उनके दूर करने के उपाय दूसरे के, इन सब के फलाफल को भोक्ता दूसरे, अर्जुन थे केवल निश्चित उपायों को अपने पराक्रम के द्वारा कार्य में परिणत करनेवाले। महाभारत का युद्ध ठाना गया। उसके कारण अर्जुन नहीं थे, युधिष्ठिर भी नहीं थे, योंही बिना कारण महाभारत के युद्ध में पाण्डवों को शामिल होना पड़ा, उस युद्ध में प्रधान भाग था राजा युधिष्ठिर का, उसके परिणाम के अधिकारी थे राजा युधिष्ठिर। पर फैसला हुआ अर्जुन के पराक्रम से। इस युद्ध में अर्जुन ने अपनी समूची शक्ति लगा दी, और वे सफल हुए। पर उस सफलता के अधिकारी स्वयं अर्जुन नहीं थे, विजयी अर्जुन नहीं हुए, किन्तु राजा युधिष्ठिर। यह बात अर्जुन की महत्ता और भी बढ़ा देती है, इससे यह बात प्रमाणित हो जाती है कि अर्जुन निष्काम कर्म योगी थे, वे महावीर थे। अर्जुन ने जो पराक्रम दिखाया वह राज्य के लिए, वह अपमान के बदले के लिए नहीं, किन्तु धर्म-पालन के लिए, बड़े भाई की आज्ञा पालने के लिए, इसी के लिए अर्जुन ने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया, अर्जुन

ने अपने जीवन का कोई आदर्श ही नहीं बनाया, पर वे सदा कार्य में लगे रहे।

खतरों से न डरकर कार्य-क्षेत्र में बढ़ना ही वीरता है, और इस प्रकार आगे पैर बढ़ाने वाले ही वीर हैं। ब्राह्मण की गाय चोरी गयी, उसने अर्जुन के यहां पुकार की, अर्जुन का धर्म था कि वे ब्राह्मण का दुःख दूर करें और गाय की रक्षा करें। वे अपने इस धर्म के पालन के लिए तैयार भी हो गये। पर सामने वहुत वड़ी कठिनता थी। अर्जुन के अस्त्र शस्त्र राजा युधिष्ठिर के घर में थे, उस समय राजा युधिष्ठिर और रानी द्रौपदी दोनों ही वहां थे, वहां जाना मना था, यदि कोई चला जाय, तो उसे वारह वर्ष तक वनवास का दण्ड भोगने का नियम था। प्रश्न कठिन था, एक ओर कर्तव्य था, दूसरी ओर स्वयं कष्ट भोगना था। क्या किया जाय? अर्जुन ने कर्तव्य को प्रधानता दी, अपने सुख दुःख की वात वे भूल गये, और उसके परिणाम रूप वारह वर्ष वनवास का दण्ड इन्होंने भोगा। यह उनकी महत्ता है, वीरता है।

अर्जुन वीर थे पर निष्ठुर न थे। उनके हृदय में दया थी और उसकी मात्रा अधिक थी। महाभारत के युद्ध के समय रण-क्षेत्र में अपने सगे सम्बन्धियों को देखते ही अर्जुन की दया प्रकाशित हो पड़ी, उन्होंने धनुष वाण छोड़ दिये और श्रीकृष्ण से कहा "न योत्स्ये" युद्ध न करूंगा, क्योंकि वह निष्फल है, क्योंकि वह अधर्म पूर्ण है। अर्जुन के इस निश्चय को बदलने के लिए श्री कृष्ण को कितना कष्ट उठाना पड़ा यह बात किसी से छिपी

नहीं है। अर्जुन ने अपने पराक्रम की अग्नि में अनेक वीरों को जलाया, अनेक राज्यों को छार खार किया, अनेक देशों को उजाड़ा पर वे दयाहीन न हुए, वे निठुर न हुए, क्षत्रिय के कठोर कर्तव्य का उन्होंने पालन किया, पर दया न छोड़ी। यह प्रकृत वीर का लक्षण है।

अर्जुन की प्रतिज्ञा थी कि मैं कभी दीनता न दिखाऊंगा, और युद्ध क्षेत्र में पीठ न दिखाऊंगा। अर्जुन ने अपनी इन प्रतिज्ञाओं का पालन किया और बड़ी खूबी तथा तत्परता के साथ। अर्जुन का जीवन युद्धों का जीवन है, और उस जीवन में बड़े बड़े बीर देवता गन्धर्व मनुष्य, यहां तक कि इन्द्र और शिव का भी इन्होंने सामना किया पर पीठ न दिखायी। कल्पना कीजिए कितना बड़ा हौसला है, कितना बड़ा कलेजा है। आजन्म ब्रह्मचारी संसार विजयी भीष्म पितामह का सामना करना किसका काम था? उस काम को योग्यता पूर्वक निभा देनेवाला क्या महावीर न था? जयद्रथ के समान वीर को मारने की अपनी कठिन तपस्या को पूरी उतार देना क्या सबका काम था? द्रोण, कर्ण, दुर्योधन आदि के समान बड़े बड़े जिसकी रक्षा करने वाले हों, जो स्वयं भी धुरन्धर योद्धा हो उसको नियमित समय में मारना क्या साधारण वीरता का काम है? अर्जुन ने यही असाधारण वीरता दिखायी।

अर्जुन को हम लोगों ने कई रूपों में देखा है सही, पर उनको क्रोधी के रूप में देखने का कम अवसर आया है। अर्जुन ने एक

नहीं है। अर्जुन ने अपने पराक्रम की अग्नि में अनेक वीरों को जलाया, अनेक राज्यों को छार खार किया, अनेक देशों को उजाड़ा पर वे दयाहीन न हुए, वे निठुर न हुए, क्षत्रिय के कठोर कर्तव्य का उन्होंने पालन किया, पर दया न छोड़ी। यह प्रकृत वीर का लक्षण है।

अर्जुन की प्रतिज्ञा थी कि मैं कभी दीनता न दिखाऊंगा, और युद्ध क्षेत्र में पीठ न दिखाऊंगा। अर्जुन ने अपनी इन प्रतिज्ञाओं का पालन किया और बड़ी खूबी तथा तत्परता के साथ। अर्जुन का जीवन युद्धों का जीवन है, और उस जीवन में बड़े बड़े बीर देवता गन्धर्व मनुष्य, यहां तक कि इन्द्र और शिव का भी इन्होंने सामना किया पर पीठ न दिखायी। कल्पना कीजिए कितना बड़ा हौसला है, कितना बड़ा कलेजा है। आजन्म ब्रह्मचारी संसार विजयी भीष्म पितामह का सामना करना किसका काम था? उस काम को योग्यता पूर्वक निभा देनेवाला क्या महावीर न था? जयद्रथ के समान वीर को मारने की अपनी कठिन तपस्या को पूरी उतार देना क्या सबका काम था? द्रोण, कर्ण, दुर्योधन आदि के समान बड़े बड़े जिसकी रक्षा करने वाले हों, जो स्वयं भी धुरन्धर योद्धा हो उसको नियमित समय में मारना क्या साधारण वीरता का काम है? अर्जुन ने यही असाधारण वीरता दिखायी।

अर्जुन को हम लोगों ने कई रूपों में देखा है सही, पर उनको क्रोधी के रूप में देखने का कम अवसर आया है। अर्जुन ने एक बार क्रोध किया जयद्रथ-वध के लिए प्रतिज्ञा करने के समय, और

इनका दूसरा क्रोध था युधिष्ठिर पर जब उन्होंने अर्जुन के धनुष की निन्दा की थी। पर यह क्रोध प्रतिज्ञा-पालन के लिए या धर्म के लिए था। इन गुणों तथा इसी प्रकार के अन्य अनुपम गुणों को देखकर यह बात अनायास माननी पड़ती है कि अर्जुन महावीर थे।

दूसरा खण्ड ।

धर्मवीर

(१) हरिश्चन्द्र ।

(२) भीष्म ।

(३) युधिष्ठिर ।

हरिश्चन्द्र भीष्म और युधिष्ठिर

वीरतापूर्वक धर्म-पालन करनेवाला धर्मवीर कहा जाता है। धर्म-पालन में जिन लोगों ने वीरता दिखायी है उनमें हरिश्चन्द्र भीष्म और युधिष्ठिर अग्रगण्य हैं। इन लोगों ने स्वयं कष्ट उठाकर धर्म के अनेक उलझनों को सुलझा दिया है। संसार के सामने उत्तम धर्म का आदर्श उपस्थित किया है।

कभी कभी मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में ऐसे विकट प्रसङ्ग उपस्थित हो जाते हैं, जिनका सुलझाना कठिन हो जाता है, क्या करना चाहिए, क्या न करना चाहिए, इसका कुछ निश्चय नहीं होता। ऐसे प्रसङ्ग आने पर मनुष्य दिग्विमूढ़ की तरह इधर उधर भटकता फिरता है। उसके लिए दो ही गति हो सकती है, एक तो यह कि वह चुपचाप बैठ जाय, कुछ करे ही नहीं, कोई उलझन ही न रह जाय, दूसरी गति यह हो सकती है कि उसके मन में जो आवे वही करे, जिसमें भलाई समझे वह करे, जिसमें बुराई देखे वह छोड़ दे। पर ये दोनों ही गतियां निरापद नहीं हैं। चुप चाप बैठे रहना मनुष्य के लिए कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। बैठने से क्या किसी का काम चल सकता है? यदि किसी तरह काम चल भी जाय तो क्या उसकी कार्यकारिणी शक्तियां योंही निष्कर्मा बनी रह सकती हैं, क्या उनमें चञ्चलता और एक प्रकार का अज्ञेय विद्रोह नहीं हो सकता? अतएव यह बात देखी जाती है कि मनुष्य चुपचाप बैठा नहीं रह सकता, वह कुछ न

हरिश्चन्द्र भीष्म और युधिष्ठिर

वीरतापूर्वक धर्म-पालन करनेवाला धर्मवीर कहा जाता है। धर्म-पालन में जिन लोगों ने वीरता दिखायी है उनमें हरिश्चन्द्र भीष्म और युधिष्ठिर अग्रगण्य हैं। इन लोगों ने स्वयं कष्ट उठाकर धर्म के अनेक उलझनों को सुलझा दिया है। संसार के सामने उत्तम धर्म का आदर्श उपस्थित किया है।

कभी कभी मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में ऐसे विकट प्रसङ्ग उपस्थित हो जाते हैं, जिनका सुलझाना कठिन हो जाता है, क्या करना चाहिए, क्या न करना चाहिए, इसका कुछ निश्चय नहीं होता। ऐसे प्रसङ्ग आने पर मनुष्य दिग्विमूढ़ की तरह इधर उधर भटकता फिरता है। उसके लिए दो ही गति हो सकती है, एक तो यह कि वह चुपचाप बैठ जाय, कुछ करे ही नहीं, कोई उलझन ही न रह जाय, दूसरी गति यह हो सकती है कि उसके मन में जो आवे वही करे, जिसमें भलाई समझे वह करे, जिसमें बुराई देखे वह छोड़ दे। पर ये दोनों ही गतियां निरापद नहीं हैं। चुप चाप बैठे रहना मनुष्य के लिए कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। बैठने से क्या किसी का काम चल सकता है? यदि किसी तरह काम चल भी जाय तो क्या उसकी कार्यकारिणी शक्तियां योंही निष्कर्मा बनी रह सकती हैं, क्या उनमें चञ्चलता और एक प्रकार का अज्ञेय विद्रोह न[illegible]ो सकता? अतएव यह बात देखी जाती है कि मनुष्य चुप[illegible]ठा नहीं रह सकता, वह कुछ न

कुछ किया ही करता है, अच्छा हो या बुरा। दूसरी गति भी ठीक नहीं। मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार जो निर्णय करता है वह सदा ही धर्म और समाज के अनुकूल होगा—इसका कुछ निश्चय नहीं। सम्भव है कभी उसका निर्णय ठीक भी हो जाय पर सदा ही उसका निर्णय ठीक होगा इसका कोई सबल प्रमाण नहीं।

ऐसे विकट प्रसङ्ग मनुष्य-जीवन में अनेकों वार आया करते हैं। धर्म और नीति के उपदेश ऐसे ही समयों के लिए हैं। धर्म में और स्वार्थ में जब विरोध देख पड़े उस समय किसका अनुसरण करना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर धर्म शास्त्रकार और नीतिकार दोनों ने ही दिया है। किन्तु शब्दों की अपेक्षा कार्यों का प्रभाव मनुष्य हृदय पर अधिक पड़ता है। इसी दृष्टि से हरिश्चन्द्र, भीष्म और युधिष्ठिर के जीवन चरित नवयुयवकों के लिये विशेष हितकारी और रोचक हैं, संसार में प्रवेश करनेवालों के लिए पथ-प्रदर्शक हैं। इनका प्रभाव स्थायी होता है, कर्तव्य मार्ग की उलझनें सुलझ जाती हैं।

राजा हरिश्चन्द्र सत्यवादी थे। सत्य-पालन करना ही इनका प्रधान कार्य था। सत्य धर्म का प्रधान अंग है। "नहि सत्यात् परोधर्मः" यही हरिश्चन्द्र का विश्वास था। इन्होंने जीवन भर अपने विश्वास के अनुसार कार्य किया। एक समय विकट प्रश्न उपस्थित हुआ। एक ओर सत्य पालन था और दूसरी ओर था अयोध्या का समृद्ध राज्य। एक ओर सत्यपालन के लिए दरिद्र-व्रत ग्रहण करने का भयानक चित्र था और दूसरी ओर थे राजा को अनायास

कुछ किया ही करता है, अच्छा हो या बुरा। दूसरी गति भी ठीक नहीं। मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार जो निर्णय करता है वह सदा ही धर्म और समाज के अनुकूल होगा—इसका कुछ निश्चय नहीं। सम्भव है कभी उसका निर्णय ठीक भी हो जाय पर सदा ही उसका निर्णय ठीक होगा इसका कोई सबल प्रमाण नहीं।

ऐसे विकट प्रसङ्ग मनुष्य-जीवन में अनेकों बार आया करते हैं। धर्म और नीति के उपदेश ऐसे ही समयों के लिए हैं। धर्म में और स्वार्थ में जब विरोध देख पड़े उस समय किसका अनुसरण करना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर धर्म शास्त्रकार और नीतिकार दोनों ने ही दिया है। किन्तु शब्दों की अपेक्षा कार्यों का प्रभाव मनुष्य हृदय पर अधिक पड़ता है। इसी दृष्टि से हरिश्चन्द्र, भीष्म और युधिष्ठिर के जीवन चरित नवयुयवकों के लिये विशेष हितकारी और रोचक हैं, संसार में प्रवेश करनेवालों के लिए पथ-प्रदर्शक हैं। इनका प्रभाव स्थायी होता है, कर्तव्य मार्ग की उलझनें सुलझ जाती हैं।

राजा हरिश्चन्द्र सत्यवादी थे। सत्य-पालन करना ही इनका प्रधान कार्य था। सत्य धर्म का प्रधान अंग है। "नहि सत्यात् परोधर्मः" यही हरिश्चन्द्र का विश्वास था। इन्होंने जीवन भर अपने विश्वास के अनुसार कार्य किया। एक समय विकट प्रश्न उपस्थित हुआ। एक ओर सत्य पालन था और दूसरी ओर था अयोध्या का समृद्ध राज्य। एक ओर सत्यपालन के लिए दरिद्र-व्रत ग्रहण करने का भयानक चित्र था और दूसरी ओर थे राजा को अनायास

प्राप्त विलास की सामग्रियों का प्रलोभन। इस प्रश्न का उत्तर देना था महर्षि विश्वामित्र को। यह महर्षि अपने समय में क्रोध के लिए प्रसिद्ध थे। हरिश्चन्द्र के सम्बन्ध में तो इनका क्रोध क्रूरता के रूप में बदल गया था। महर्षि ने इस बात की प्रतिज्ञा सी कर ली थी कि जिस तरह हो हरिश्चन्द्र फ़ेल किये जायँ। इसी कारण महर्षि ने हरिश्चन्द्र के मार्ग में क़ानूनी बेक़ानूनी सब तरह की अड़चनें डालीं। पर हरिश्चन्द्र पास हुए। महर्षि जी की आशा निराशा में बदल गयी, हरिश्चन्द्र ने राज्य छोड़ा, स्त्री-पुत्र बेंचे, पर सत्य का पालन किया। अन्त में विजयी हुए, यशस्वी हुए, और संसार को इस बात का सन्देश उन्होंने दिया कि धर्म तथा राज्य इनमें धर्म का ही महत्व अधिक है। राज्य के लिए धर्म नहीं छोड़ा जाता किन्तु धर्म के लिए राज्य छोड़ा जाता है। धर्म की महत्ता के सामने राज्य कोई वस्तु नहीं, सांसारिक स्वार्थ कोई वस्तु नहीं। यही विजय का मार्ग है, यही अपनी कीर्ति को चिरस्थायी बनाने का सर्वोत्तम साधन है।

भीष्मपितामह के सामने भी एक ऐसा ही विकट समय उपस्थित हुआ था। एक ओर था पिता के प्रति पुत्र का कर्तव्य पालन और दूसरी ओर था अपना सुख। यदि पिता की इच्छा-पूर्ति की जाती है, जो भीष्म के ही अधीन थी, तो भीष्म की सब सांसारिक वासनाओं पर पानी फिर जाता है, हस्तिनापुर के प्रसिद्ध राज्य से हाथ धोना पड़ता है। क्या किया जाय! ऐसा कोई उपाय नहीं कि जिससे दोनों की रक्षा हो सके। दोनों का परस्पर गहरा

विरोध है, एक ही हो सकेगा, जो चाहो चुन लो। भीष्म ने चुन लिया। उन्होंने कहा यह शरीर पिता का है, इस शरीर के मन आदि विनाशी जितने पदार्थ हैं सभी पिता के हैं, पिता के सुख के सामने इसके सुख का विचार ही उत्पन्न नहीं होता। पुत्र का शरीर पिता का अंग है, पिता प्रधान है और पुत्र अप्रधान, ऐसी दशा में पुत्र को कोई हक़ नहीं कि अलग अपने सुख की बात सोचे। पिता के सुख में उसका सुख, पिता के दुख में उसका दुख। भीष्म ने राज्य तो छोड़ा, साथ ही आजीवन ब्रह्मचारी रहने की भी प्रतिज्ञा की। पिता ने समझाया, माता ने समझाया, वंश-नाश का भय-दायक प्रसंग उपस्थित हुआ पर भीष्म की भीष्म-प्रतिज्ञा अचल रही। भीष्म ने जो आदर्श बनाया है वह बड़े ही महत्व का है। प्रतिज्ञा पालन के लिए कितनी दृढ़ता होनी चाहिए, पिता के प्रति अपने कर्तव्यों के पालन के लिए किस साहस और धीरता की आवश्यकता है आदि बातों का उत्तर हम लोगों को भीष्म पितामह के जीवनचरित से मिलता है। भीष्म ने मनुष्य मात्र को न सही, भारतवासी मात्रको तो अवश्य ही एक कठिन प्रश्न का उत्तर बताया है; समाज और परिवार के लिए उत्तम आदर्श निर्माण किया है। अतएव वे सब के पितामह हैं।

युधिष्ठिर के जीवन चरित में अनेक कठिन कठिन प्रश्नों के समाधान देख पड़ते हैं। अपने उपकारी के लिए कितना त्याग करना चाहिये, कुटुम्ब में कलह न होने पावे इसके लिए क्या करना चाहिये कितना कष्ट उठाना चाहिये आदि प्रश्नों की मीमांसा

युधिष्ठिर के जीवनचरित में है। युधिष्ठिर का जीवनचरित कर्तव्य-मय है। वह आशाओं और मनोरथों का जीवन नहीं है। युधिष्ठिर ने जुआ खेला कर्तव्य की प्रेरणा से, बड़े चाचा की आज्ञा-पालन के लिए, उन्होंने युद्ध किया धर्म के लिए, क्षत्रिय धर्म की रक्षा के लिए। उन्होंने अपने पक्ष के तथा विपक्ष के अनेकों वीरों का सर कटवाया, अनेक स्त्रियों को विधवा बनाया, अनेक बच्चों को पितृ-हीन बनाया, अनेक पिताओं को पुत्र-हीन बनाकर रुलाया—युधिष्ठिर जानते थे कि यह सब अनर्थ है पर वह विवश थे, धर्म की अवहेलना नहीं कर सकते थे।

युधिष्ठिर ने राज्य के लिए युद्ध किया यह कहना युधिष्ठिर का अपमान करना है। महाभारत पढ़ने वाले जानते हैं कि जब युधिष्ठिर विजयी हुए जब इनके विपक्षियों का नाश हो गया, तब वह सुखी नहीं हुए। इनका मानवी-हृदय व्याकुल था। युद्ध में मारे गये अपने भाइयों स्वजन सम्बन्धियों के लिए वह रोता था। क्या उद्देश्य सिद्ध होने पर भी किसी को दुखी होते देखा है! आप जानते हैं जो मनोरथ जितने अधिक कष्टों से सिद्ध होता है उसकी प्राप्ति पर सुख भी उतना ही होता है, पर युधिष्ठिर के जीवन चरित में यह बात नहीं देखी जाती। युधिष्ठिर का मानवी-हृदय व्याकुल था, पर वह धर्म के सामने विवश था।

आगे दिये हुए इन धर्म वीरों के संक्षिप्त परिचयों से पाठक देखेंगे कि उनके कामों से हमें कैसी शिक्षा मिलती है, वे किस प्रकार हमारे लिए पथ-प्रदर्शक हैं।

सत्यव्रत राजा हरिश्चन्द्र

सूर्यवंशी राजा इक्ष्वाकु कुल में त्रिशंकु नामक एक राजा थे, त्रिशंकु के पुत्र राजा हरिश्चन्द्र हुए। हरिश्चन्द्र प्रतापी, सत्यवादी, दानशील, धर्मात्मा राजा थे। अयोध्या इनकी राजधानी थी। इन्होंने अपना मुख्य कर्तव्य, मुख्य धर्म, प्रजापालन समझा था। सदा ये प्रजा के पालन में लगे रहते थे। इसी कारण इनके विषय में यह प्रसिद्धि थी कि— "हरिश्चन्द्र समो राजा न भूतो न भविष्यति" अर्थात् हरिश्चन्द्र के समान राजा न तो हुआ है और न होगा। अपने राजा के प्रयत्न से प्रजा सदा सब प्रकार के सुखों का उपभोग करती थी, उसे किसी प्रकार की चिन्ता न थी। राजा को प्रजा संबंधी व्यवस्थाओं के करने से जो अवसर मिलता था उसे वे धर्म-चिन्तन विद्वत्समागम आदि कार्यों में लगाते थे। राजा भी स्वयं ज्ञानी थे। लक्ष्मी की चंचलता का उन्हें पूरा ज्ञान था। वे अपने सुख में न सुखी होते थे और न दुख में दुखी। वे सदा समान रूप से रहते थे। इन्हीं सद्गुणों के कारण राजा की प्रसिद्धि चारो तरफ़ फैल गयी थी। रानी भी राजा के गुणों के अनुरूप ही गुणी थीं। उनका नाम शैव्या था। उन्हें तारामती भी कहते थे। कालिदास ने कहा है—

"प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां,
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥"

अर्थात् ब्रह्मा की सृष्टि अधूरी है, ब्रह्मा अपनी सृष्टि में सब गुणों का निर्माण करके भी कुछ न कुछ कमी रख ही देता है। यही बात राजा हरिश्चन्द्र के विषय में भी घटित होती है। राजा हरिश्चन्द्र शूरवीर थे, धर्मात्मा थे, ज्ञानी थे, प्रजापालक थे, पर सुख देने वाले इन सामग्रियों के रहते भी एक पुत्र के अभाव से राजा खिन्न रहते थे। अपना भार किस को सौंपेंगे, पितरों को पिण्ड कौन देगा आदि बातों के विचार आने से उनका मन दुखी हो जाता था। इस ओर राजा के मन्त्रियों का भी ध्यान गया। वशिष्ठ जी ने भी इस बात का अभाव प्रगट किया। वशिष्ठ जी ने राजा को वरुणदेव की आराधना करने की सम्मति दी और उसकी विधि भी बतलाई। राजा गुरु की आज्ञा के अनुसार वरुणदेव की आराधना करने लगे। बहुत दिनों तक आराधना करने के पश्चात् वरुणदेव प्रसन्न हुए और उन्होंने राजा को पुत्र होने का वर दिया, पर साथ ही वरुण ने यह कहा कि जो पुत्र उत्पन्न होगा उसका मेरे उद्देश्य से बलिदान करना होगा। राजा ने वरुणदेव की आज्ञा मान ली। यथा समय वरुणदेव के प्रसाद से राजा के एक पुत्र हुआ, उसका नाम रोहित रक्खा गया। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार राजा को उचित था कि वे पुत्र को बलि दे दें। पर उन्होंने वैसा नहीं किया। राजा ने वरुणदेव को यह कह कर समझा दिया कि अभी बालक के दांत नहीं निकले हैं। दन्त-हीन

पशु बलि के लिए निषिद्ध है। वरुणदेव भी चले गये। दांत निकलने पर जब वरुण देवता ने अपनी बलि मांगी तब उन्होंने उत्तर दिया कि इसका चूड़ा-संस्कार नहीं हुआ है, ऐसा पशु बलि के अयोग्य है। वरुण देवता फिर भी लौट गए। लड़का तीन वर्ष का हुआ तीसरे वर्ष उसका चूड़ा संस्कार हुआ। वरुण देवता भी पहुँचे, उन्होंने आकर अपना दावा पेश किया, पर राजा की ओर से यह उत्तर पाकर कि यज्ञोपवीत संस्कार के बिना द्विज अपवित्र है उसे देवता और पितर संबन्धी कर्म्मों के करने का अधिकार नहीं है, अतएव यज्ञोपवीत हो जाने दीजिए, वरुणदेवता चले गए। अब की बार लौटने का वरुण देवता को बड़ा दुःख हुआ। उनको मालूम हो गया कि राजा पुत्र के मोह में फँसकर मुझे टरका रहा है। उन्हें क्रोध हुआ और उन्होंने राजा को शाप दिया। वरुण के शाप से राजा को जलोदर का रोग हुआ, राजा की चालाकी जाती रही, जिसके लिये पुत्र सुखदायी है उस मूल ही पर कुठारा घात होना चाहता है यह सोच के राजा बड़े व्याकुल हुए। राजा ने मूल की रक्षा का उपाय पक्का किया, पुत्र के बलिदान की तैयारी होने लगी। उस समय उस राज-कुटुम्ब में नारद मुनि का शुभागमन हुआ। उन्होंने राजकुमार रोहित से कहा—देखो तुम्हारे पिता तुम्हारा बलिदान किया चाहते हैं और वह इसलिए कि उनका रोग दूर हो। कितनी निठुरता है। अपने सुख के लिए पुत्र का बलिदान करना कितना स्वार्थ पूर्ण कार्य है। नारदमुनि की यह बात रोहित की समझ में आगयी। उसने हाथ जोड़कर

मुनि से अपनी रक्षा का उपाय पूछा। मुनि ने राजकुमार को सम्मति दी कि तुम यहां से एक दिन छिपकर भाग जाओ। वन में भाग जाने पर तुम्हारा पता किसी को लगेगा ही नहीं, इस प्रकार तुम्हारी रक्षा हो जायगी। राजकुमार ने वैसा ही किया। इधर राजा ने जो बलि की तैयारी की थी वह ज्यों की त्यों पड़ी रही, उसका कुछ उपयोग न हो सका। उधर रोग भी बढ़ता गया, राजा की व्याकुलता भी बढ़ती गयी। राजा अपने जीवन से निराश होने लगे। मंत्रिमंडल ने निश्चय किया कि क्रीत-पुत्र बलिदान किया जाय क्योंकि वह भी एक प्रकार का पुत्र धर्मशास्त्र में कहा गया है। अब चिन्ता इस बात की हुई कि पुत्र दे तो कौन दे। बलिदान के लिए अपना पुत्र बेच देना धन धान्य सम्पन्न उस समय के भारत में एक अद्भुत बात थी। संसार में पाप के लिए दो ही अवस्था है। पहली अवस्था है उन्माद, चाहे वह धन का हो, अधिकार का हो अथवा मद्य का। दूसरी अवस्था है पेट की ज्वाला। पुस्तकों से यह बात मालूम होती है कि उस समय इन अवस्थाओं के सर्वथा अभाव न होने पर भी उनकी बहुत ही कमी थी। ऐसी दशा में पुत्र को बलिदान के लिए बेचनेवाले का मिलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। पर राजा की ओर से ढुँढाई होने लगी, एक पुत्र खरीदने के लिए प्रयत्न होने लगा।

"जिन ढूँढ़ा तिन पाइयां"। आखिर ढूँढ़ते ढूँढ़ते राजा के कर्मचारियों को अजीगर्त नामक एक ब्राह्मण मिला। वह बड़ा ही

लोभी और क्रूर था। अपने लोभ को सफल करने के लिए वह कठिन से कठिन काम कर सकता था। राज कर्मचारियों ने उससे अपना अभिप्राय बतलाया। उसने कहा मैं अपने बड़े लड़के 'शुनोलांगूल' को न दूँगा और उसकी स्त्री ने कहा कि मैं अपने छोटे लड़के 'शुनःपुच्छ' को न दूंगी। अब रह गए 'शुनः शेप'। इनकी रक्षा करने वाला कोई नहीं रह गया। यह देखकर शुनःशेप ने स्वयं कहा मुझे आप लोग बेच दीजिये, अजीगर्त ने सोने के रुपयों के बदले अपना लड़का बलिदान के लिए दे दिया। राजा ने अपने प्राणों की रक्षा के लिए एक ब्राह्मण का लड़का सोने से खरीदा। पशु मिल गया। यज्ञ की तैयारी होने लगी। वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि बड़े बड़े प्रसिद्ध महर्षि यज्ञ के लिए निमंत्रित हुए। नरमेध नामक यज्ञ की सब तैयारियां होने लगी। पशु के स्थान पर शुनःशेप रस्सी से बांधा गया। विश्वामित्र उस यज्ञ में होता बन कर आये थे, उन्हें यह निर्दयता-पूर्ण क्रूर व्यवहार अच्छा न लगा। उन्होंने शुनःशेप को अग्नि की स्तुति करने का उपदेश दिया। वह अग्नि की स्तुति करने लगा। ख़ुशामद बड़ी चीज़ है, इससे साहब, सूबा, अमला, राजा, बाबू, सेठ, साहूकार ही प्रसन्न नहीं होते किन्तु देवता भी इससे पिघल जाते हैं। शुनःशेप की स्तुति से अग्निदेव प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे वरदान दिया। राजा भी रोग-मुक्त हुए और शुनःशेप के प्राण भी बचे, इस प्रकार इस विकट यज्ञ की समाप्ति हुई।

निरोग हो जाने पर राजा पुनः अपने कार्य में लगे। पुनः वे

सुव्यवस्था से राज्य सचालन करने लगे। कुछ दिन पश्चात् उन्होंने राजसूय यज्ञ करने का निश्चय किया।

इस यज्ञ में वशिष्ठजी होता बने थे। विधि पूर्वक यज्ञ समाप्त हुआ। सब को खूब दक्षिणा दी गई, वशिष्ठ जी को भी खूब धन मिला। वशिष्ठ इससे बड़े प्रसन्न हुये। वे दक्षिणा की सामग्री लेकर घर चले, रास्ते में उन्हें विश्वामित्र मिले। उन्होंने पूछा यह माल कहाँ मिला ? वशिष्ठ ने राजा के राजसूय यज्ञ का वर्णन भी किया और राजा की दान शीलता तथा धार्मिकता की प्रशंसा भी की। साथ ही यह भी कहा कि वह तो मेरा यजमान है। विश्वामित्र को यह बात बड़ी चुभी। इसके कई कारण थे। राजा हरिश्चन्द्र त्रिशंकु के पुत्र थे। यह बात तो सबको मालूम ही है। इन्हीं त्रिशंकु ने इसी पाञ्चभौतिक शरीर से स्वर्ग जाने के लिए यज्ञ करना चाहा था और उस यज्ञ के ऋत्विज होने के लिए वशिष्ठ जी को निमंत्रित किया था पर इन्होंने 'नहीं' कर दिया था। तब विश्वामित्र ने ही त्रिशंकु को यज्ञ कराया था। दूसरी बात यह कि अभी हरिश्चन्द्र ने भी एक यज्ञ किया था, उस यज्ञ में विश्वामित्र ही होता बने थे। पर इस यज्ञ में हरिश्चन्द्र ने विश्वामित्र को पूछा तक नहीं। साथ ही उनके शत्रु वशिष्ठ को बहुमान मिला। इन बातों के सोचने से ही शायद विश्वामित्र को क्रोध आया हो। वशिष्ठ के मुंह से हरिश्चन्द्र की प्रशंसा सुनकर विश्वामित्र आग बबूला हो गए, उन्होंने कहा—व्यर्थ ही तुम ऐसे नीच राजा का गुण-गान करते हो, उसे धर्मात्मा कहना भूल है वह काहे का सत्य-

वादी। वह तुम्हारा यजमान है और इस समय उसने तुम्हें माल भी दिया है इसीलिए तुम उसकी इतनी प्रशंसा करते हो। वशिष्ठ ने इसका भी उत्तर दिया और उन्होंने पुनः राजा का गुणगान किया। वशिष्ठ के बार बार गुणगान करने से विश्वामित्र को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने उसी समय प्रतिज्ञा की कि यदि मैं हरिश्चन्द्र को असत्यवादी सिद्ध न करूं तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं और यदि मैं अपनी यह प्रतिज्ञा पूरी न करूँ तो मेरे सब पुण्य फल नष्ट हो जायँ। वशिष्ठ जी ने भी कहा अच्छा देखा जायगा, पर अपनी प्रतिज्ञा याद रखना। विश्वामित्र का स्वभाव बड़ा ही विलक्षण था, वे तपस्या करने के आदी हो गये थे। बड़े बड़े कष्टों को सहन कर वे वर्षों तपस्या करते थे और एक दिन के क्रोध में उन सबको नष्ट कर देते थे। तपस्या का फल नष्ट होने पर वे पुनः तपस्या करने में लग जाते थे। तपस्या उनके सब दुःखों के दूर करने की दवा थी और उनके सब मनोरथों को पूर्ण करने का अमोघ उपाय था। वशिष्ठ से शर्त लगाकर वे पुनः तपस्या करने बैठ गये। विश्वामित्र ने अपने प्रबल प्रयत्न से अपनी तपस्या में सिद्धि पायी; अपनी तपस्या के फल स्वरूप उन्होंने कई एक ऐसे मनुष्य उत्पन्न किये जिनका काम मनुष्यों को कष्ट देना; पौधों को तोड़ना मरोड़ना था। उन प्राणियों ने हरिश्चन्द्र के राज्य में लोगों को दुःख देना प्रारम्भ किया। इन जन्तुओं के उपद्रव की खबर राजा को मिली, राजा उनको दण्ड देने के लिए निकले। वन में जाकर राजा ने इनका झुण्ड देखा; राजा ने मारने

के लिये उन कई जन्तुओं को दौड़ाया, वे बड़ी दूर जाकर अदृश्य हो गये। राजा ने अदृश्य न होने तक उनका पीछा किया। अब राजा लौटने लगे। पर रास्ता भूल गये, वन में इधर उधर भटकते फिरे, मध्यान्ह हो गया। राजा भूख प्यास से व्याकुल हो गये। रास्ते में उन्हें एक नदी मिली। वे वहां बैठ कर विश्राम करने लगे और मन ही मन सोचने लगे कि मैं वड़ी दूर निकल आया हूँ, राजधानी जाने के मार्ग का पता नहीं। राजा यह सोच रहे थे कि ऋषि का भेजा एक हिरन वहां आया। राजा उसे मारने के लिए दौड़े। हिरन ऋषि के आश्रम की ओर दौड़ता गया और वहां जाकर अदृश्य हो गया। राजा को उसका पीछा छोड़ना पड़ा। वहां एक शिव का मन्दिर था। राजा उसी शिव मन्दिर में विश्राम करने लगे। मन्त्री भी रानी को साथ लेकर वहां राजा से आ मिले। राजा, रानी और मन्त्री उसी शिव-मन्दिर में बैठे। वहां दो सुन्दरी स्त्रियां आईं। वे गाने लगीं। उनका गाना सुन राजा बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि तुम क्या चाहती हो, कहो। उनकी चाह साधारण न थी उन लोगों ने कहा महाराज, आप अपनी रानी का त्याग करें और हम लोगों से व्याह करें। उनकी इस अद्भुत मांग को सुन कर राजा के उत्तर देने के पहले ही मन्त्री ने उन लोगों को निकाल दिया। इससे सर्पिणी की तरह क्रुद्ध हो कर वे वहां से चली गईं। जाकर ऋषि महराज से अपनी सब बात उन लोगों ने बतलाई। ऋषि महराज तो झगड़ा खरीदना चाहते ही थे; इसलिए ही यह सब सामग्री इकट्ठी कर रक्खी थी। उन

स्त्रियों की बात सुन कर महर्षि को बड़ा क्रोध आया और वे बकते झकते राजा के पास पहुँचे। राजा को उन्होंने गालियां दीं और ललकारा पर महारानी ने बड़ी स्तुति की जिससे विवश हो ऋषि महाराज को लौटना ही पड़ा।

महर्षि विश्वामित्र अपनी धुन के पक्के थे, जिसके पीछे पड़ते थे उसका पिण्ड तब तक नहीं छोड़ते थे जब तक वे स्वयं थक न जायं। इस पहले वार के खाली जाने पर उन्होंने दूसरा वार किया। वे स्वयं वृद्ध ब्राह्मण बन कर राजा के पास वहीं बन ही में पहुँचे। उस समय राजा सो रहे थे। ब्राह्मण के पहुँचते ही लोगों ने राजा को जगाया। ब्राह्मण ने कहा राजन् मेरे पुत्र का ब्याह है, वशिष्ठ से मैं आप की कीर्ति सुन चुका हूँ। वशिष्ठ ने कहा था कि हरिश्चन्द्र के समान दानी राजा कोई नहीं है। अतएव मैं प्रार्थना करता हूँ कि मेरे पुत्र के ब्याह के लिए आप धन दें। राजा ने उन्हें राजधानी में बुलाया। जब राजा रानी मन्त्री आदि राजधानी में पहुँचे तब वहां उन्होंने उसी वृद्ध ब्राह्मण को उपस्थित पाया। राजा ने उन्हें देखते ही कहा कि द्विज देव, जो आप मांगना चाहते हो मागें, जो आप मांगेंगे वही दिया जायगा। मैं इस संसार में अर्थियों का मनोरथ पूरा करना चाहता हूँ।

विश्वामित्र को और क्या चाहिये था। विश्वामित्र ने कहा, महाराज सर्वस्व सहित आप अपना राज्य हमें दें। राजा ने कहा अच्छा मैंने दिया, ब्राह्मण ने कहा "अच्छा मैंने लिया।" राजा ने राज सिंहासन छोड़ दिया और जटा मुकुट मण्डित मुनि के मस्तक

पर अपना मुकुट रख दिया। ऋषि की शोभा बढ़ी और साथ ही प्रसन्नता भी। ऋषि ने कहा महाराज दान के अनुरूप दक्षिणा भी चाहिये। राजा ने कहा अच्छा। पर राजा के सामने अब विकट प्रश्न उपस्थित हुआ कि दक्षिणा की रक़म आवे कहां से। राज्य के साथ समस्त धन तो उन्होंने पहले ही दे दिया था। स्त्री पुत्र और अपने शरीर के सिवाय अब उनके पास कुछ भी नहीं बचा था। राजा बड़ी चिन्ता में पड़े, वे स्त्री पुत्र राज्य छोड़ वन में चले गये। नगर निवासियों ने राजा की यह दुर्दशा देखी, विश्वामित्र की धूर्तता का समाचार भी सुना। वे विश्वामित्र की निन्दा करने लगे।

राजा और रानी वन को जा रहे हैं। मार्ग में ऋषि महाराज के दर्शन हुए। ऋषि ने कहा महाराज, दक्षिणा का सुवर्ण मुझे देकर जाओ। यदि न देने की इच्छा हो तो कहो मैं राज्य छोड़ देता हूँ। यदि लोभ के कारण राज्य दान करने का तुम्हें दुःख होता हो तो कहो मैं राज्य लौटा दूं। यदि नहीं तो दक्षिणा की रक़म शीघ्र दो।

राजा ने कहा—मैं सूर्यवंशी क्षत्रिय हूँ। मैंने राजसूय यज्ञ किया है और मैं मुँह मांगा दान देता हूँ। दक्षिणा की रकम दूंगा। पर इस समय पैसा पास नहीं है, ठहर जाइये, प्रबन्ध करता हूँ, प्रबन्ध होते ही मैं आप को दूंगा। आप कुछ दिन प्रतीक्षा करें।

विश्वामित्र ने कहा—राजन्. आपने राज्य दिया, ख़जाना दिया, सेना दी, धन प्राप्त होने के सभी साधन आप ने दे दिये, अब आप को धन कहां से मिलेगा। आप प्रबन्ध क्या करेंगे।

आप व्यर्थ मुझे आशा क्यों दे रहे हैं ? मैं निर्धन को पीड़ित नहीं करना चाहता, अतएव आप यही कह दीजिए कि मैं नहीं दूंगा, बस मैं चला जाऊंगा।

राजा—महाराज आप धीर धरें, मैं दूंगा, मैं, मेरी स्त्री और पुत्र वर्तमान है। इनको बेचने से जो धन मिलेगा वह मैं आपको देकर ऋण चुकाऊंगा। आप ग्राहक ढूंढ़ें, नहीं तो हम लोग काशी जा रहे हैं, वहां किसी की दासता स्वीकार कर अपने को बेच देंगे।

राजा, रानी और राजकुमार के साथ काशी के लिये प्रस्थित हुए। पैदल रास्ता चलना इन लोगों के लिए कठिन था। जो कभी दो कोस भी पैदल नहीं चला उसे आज अयोध्या से काशी पैदल जाना है। महारानी और राजकुमार साथ हैं। धूप भी साधारण न थी, न कोई आदमी साथ है, न कोई सामग्री। भूख और प्यास की अधिकता अलग ही अपनी प्रखरता दिखा रही है। उसी समय विश्वामित्र ब्राह्मण वेष में उपस्थित हुए। उन्होंने कहा—मेरी स्त्री गर्भवती है। मेरे एक पुत्र है। हम लोगों को धूप में चलने से कष्ट होता है अतएव कृपा कर अपने जूते प्रदान कीजिये। राजा ने अपने, रानी और राजकुमार के जूते उतरवा कर ब्राह्मण को दिलवा दिये। राजा के शरीर पर कोई वस्त्र भी नहीं था, जूते ब्राह्मण देवता को अर्पण हुए। निदाघ की धूप प्रखर ताप फैला रही थी। राजा, रानी और राजकुमार के साथ चले जा रहे हैं। उनके कष्टों की अब सीमा नहीं। शरीर अवसन्न हो रहा है ! इन्द्रियां

शिथिल हो रही हैं, मन व्याकुल हो रहा है, वे मूर्च्छित हो जाते हैं पर उनकी आत्मा दृढ़ है, वे अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करेंगे। राजकुमार को मूर्च्छा आ गयी, रानी भी मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं, राजा उनकी दशा न देख सके। वे भी मूर्च्छित होकर गिर पड़े। उस समय वे ही ब्राह्मण दिखलाई पड़े, उन्होंने जल देना चाहा। ब्राह्मण ने कहा लीजिये इसके द्वारा इनकी मूर्च्छा दूर कीजिए राजा ने कहा नहीं, ऐसा नहीं। मैं क्षत्रिय हूँ मैं दान लेता नहीं बल्कि देता हूँ। ब्राह्मण लौट गए। मालूम नहीं इस तेजस्विता पूर्ण त्यागमय धर्म का प्रभाव उसके मन पर पड़ा कि नहीं।

ब्राह्मण रूपधारी विश्वामित्र ने राजा को सत्यच्युत करने का बड़ा प्रबल यत्न किया। पर उन्हें सफलता न मिली। अन्त में उन्होंने अपनी माया से वन में आग लगा दी। चारों तरफ़ आग जलने लगी। ये लोग घबराए। उसी घबड़ाहट में रानी रास्ता भूल गयीं। वह एक स्थान पर चिन्ता करने लगीं। ऋषि ने अच्छा अवसर देखकर दो मुर्दे रानी के सामने लाकर रख दिये और कहा कि यह तुम्हारा पति है और यह तुम्हारा पुत्र है। इस बात को सुनते ही रानी सती होने के लिए तैय्यार हुईं। वे चिता बनाने के लिए लकड़ी इकट्ठी करने लगीं। यह देखकर ऋषि ने कहा, संध्या हो गयी है संध्या के समय सती होने की विधि नहीं है। रानी ने उस समय सती होने का विचार त्याग दिया। ऋषि ने कहा, यहाँ अकेले कैसे रहोगी, चलो हमारे आश्रम पर। रानी ने कहा—नहीं, मैं अब अपनी रक्षा नहीं चाहतीं, मेरी रक्षा की कोई आवश्यकता

नहीं। ऋषि लौट गए। रानी दोनों मुर्दों को लिए रात भर बैठी रहीं। न मालूम कहां से एक बाघ आया और रानी को बिना कुछ नुक़सान पहुँचाये दोनों मुर्दों को ले कर चला गया। रानी वहीं रोती रह गयीं। समूची रात रानी के लिये काल रात्रि से भी बढ़ कर दुःखदायिनी बीती। प्रातःकाल होते ही राजकुमार और राजा रानी को ढूंढ़ते ढूंढ़ते रानी के पास पहुँचे। तीनों वहां से काशी के लिये चले।

यथा समय ये लोग काशी पहुँचे। काशी पहुँचते ही ब्राह्मण की दक्षिणा की चिन्ता राजा को सताने लगी। राजा बैठे बैठे कुछ सोचने लगे, उस समय राजा का चेहरा उतरा हुआ था। यह देख कर रानी ने कहा, महाराज आप किसी बात की चिन्ता न करें, धर्म पर आप दृढ़ रहें; सत्य से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं है। इस लिये किसी के यहां दासी रूप में मुझे आप बेंच दें और उस धन से ब्राह्मण की दक्षिणा चुका दें। रानी की यह बात सुन कर राजा मूर्च्छित होकर गिर पड़े। रानी के प्रयत्नों से राजा को होश हुआ। राजा उठ कर बैठे। उसी रास्ते कालकौशिक नामक ब्राह्मण जा रहा था, रानी ने उस ब्राह्मण को देखकर राजा से कहा कि आप इनसे धन मांगें।

राजा ने कहा—मैं क्षत्रिय होकर याचना कैसे करूँ। मैं मांगना नहीं चाहता किन्तु देना चाहता हूँ। मैंने दान देने का ही अभ्यास किया है, इस समय भी मांगने के लिये मेरे हाथ नहीं बढ़ते। मैं कैसे मांगूँ, धर्म विरुद्ध कर्म मैं कैसे करूं ?

रानी ने कहा—प्राणनाथ, तब आप मुझे बेचें और जो धन मिले उसे ब्राह्मण को देकर अपने सत्य की रक्षा करें।

यह सुनकर राजा को बड़ा दुःख हुआ पर सत्यपालन का कोई दूसरा उपाय नहीं रहा। यह देख राजा रानी और राजकुमार तीनों बाज़ार में गए। बाज़ार में खड़े होकर राजा ने कहा—लोगो, सुनो, जिस किसी को दासी की ज़रूरत हो तो और वह जितना मैं मांगू उतना देने की सामर्थ्य रखता हो तो वह कहे। लोगों ने यह सुनकर कहा, तुम कौन हो ? तुम अपनी स्त्री क्यों बेचते हो ? राजा ने कहा यह तुम लोग क्यों पूछते हो, यह पूछ कर क्या करोगे ! मैं एक निर्दयी राक्षस हूं और इसीलिए अपनी स्त्री बेचता हूं।

काल कौशिक नाम का धनाढ्य ब्राह्मण वहां आया। उसने दासी के मूल्य की सुवर्ण मुद्रा रख दी और वह रानी का हाथ पकड़ कर चलने के लिये जल्दी करने लगा। रानी ने कहा, ब्राह्मण, आप थोड़ी देर के लिये मुझे अवकाश दें, मैं अपने पुत्र को देख लूँ क्योंकि कल से उसका देखना दुर्लभ हो जायगा। राजकुमार भी अपनी माता को ऐसी विवश देख व्याकुल हो गया। वह फूट फूट कर रोने लगा और अपनी माता की ओर दौड़ा। आकर माता का कपड़ा पकड़ कर खींचने लगा, ब्राह्मण ने राजकुमार को मारा और धमकाया पर राजकुमार माता माता कहता ही रहा, वह वहां से हटा नहीं। राजकुमार की दशा देख रानी ने कहा, महाराज आप मुझ अभागिन पर इतनी और दया करें कि इस बालक को भी मोल लें। ब्राह्मण ने रानी की बात मान ली, बालक को भी

उन्होंने खरीद लिया। अब ब्राह्मण ने रानी और राजकुमार से चलने के लिये कहा। रानी ने उस समय राजा की परिक्रमा कर उन्हें प्रणाम किया। रानी ने कहा—यदि मैंने दान किये हों, यदि मैंने यज्ञ किया हो, यदि मैंने ब्राह्मणों को तृप्त किया हो तो उन सब के पुण्यों से हरिश्चन्द्र ही मेरे पुनः पति हों।

रानी की इन बातों को सुनकर राजा मूर्च्छित हो गए। मूर्च्छा भङ्ग होने पर राजा हाहाकार कर रोने लगे। राजा ने कहा—छाया वृक्ष को कभी नहीं छोड़ती, पर यह सत्यस्वभावा मुझे छोड़कर क्यों जा रही है। पुत्र, क्या तुम भी मुझे छोड़ कर जाते हो। ब्राह्मण, बतलाओ मैं कहां जाऊँ? मेरे दुःख कौन दूर करेगा। भूदेव, पुत्र वियोग से जो दुःख मुझे हो रहा है वह राज्य त्याग या वनवास से भी नहीं हुआ था। राजा ने रोते हुए रानी से कहा—कल्याणि, आज मैं तुमको छोड़ रहा हूं, आज अयोध्या की रानी को दास दासी का काम करने के लिये विवश होना पड़ता है। तुम को इक्ष्वाकु वंश का राजा पति मिला था पर आज तुम्हें दासी बनना पड़ा। इन बातों के सोचने से मेरा कलेजा फटा जा रहा है। इस महान् दुःख का बराबरी करनेवाला दुःख कहीं इतिहास में भी नहीं सुनाई पड़ता। राजा इसी प्रकार शोक के आवेग में बोलते रहे। ब्राह्मण, रानी और राजकुमार को लेकर चला गया।

राजा अकेले रहे। रानी और राजपुत्र जिधर गये थे उधर ही टकटकी लगाए वे खड़े थे। वे ध्यान मग्न हो गये थे। उसी समय ब्राह्मण रूपधारी विश्वामित्र वहां पहुँचे और उन्होंने अपनी दक्षिणा

मांगी, राजा ने कहा, स्त्री पुत्र के बेचने से इतना धन मुझे मिला है उठाओ ले जाओ। ब्राह्मण ने कहा—महाराज यह क्या, आपने तो कहा था कि जो मांगोगे वह दूंगा। राजसूय यज्ञ करने का धन आप मुझे दें।

राजा ने कहा—अब यह मेरा शरीर वर्तमान है जो कोई ले तो मैं अपने को भी बेचकर धन आपके अर्पण कर दूँ। ब्राह्मण ने कहा—आप जो चाहें करें मुझे तो धन चाहिये वह आप दें। यह कह कर ब्राह्मण देव चले गए। राजा वहीं खड़े खड़े बड़ी देर तक कुछ सोचते रहे, फिर वे आगे बढ़े। उन्होंने कहा जिसको दास की जरूरत हो वह मुझे खरीदे। इसी प्रकार कहते राजा आगे बढ़े। वहां एक चाण्डाल आया। वह चाण्डाल नहीं था किन्तु चाण्डाल के वेश में धर्मराज थे। चाण्डाल रूपी धर्मराज ने कहा—मेरा नाम प्रवीर वीरबाहु है, मैं चाण्डाल हूँ। मैं तुम्हे दास के रूप में खरीदता हूँ। राजा ने कोई दूसरा उपाय न देख स्वीकार कर लिया। राजा ने अपना मूल्य ब्राह्मण देव को दे दिया। उस समय अकाशवाणी ने कहा—राजा हरिश्चन्द्र ऋणमुक्त हो गये। देवताओं ने पुष्प वृष्टि की। विश्वामित्र ने स्वस्ति कह कर दान ग्रहण किया और आशीर्वाद दिया। विश्वामित्र धन लेकर चले गए और चाण्डाल राजा हरिश्चन्द्र को लेकर चला गया।

चाण्डाल ने राजा हरिश्चन्द्र को श्मशान में रहने का काम सौंपा, वह श्मशान काशी के दक्षिण भाग में था, वहां अनेक मुर्दे आते थे। भयङ्कर स्थानों की उपमा श्मशान से ही दी जाती है, इसीसे

श्मशान की भयङ्करता का अनुमान किया जा सकता है। राजा हरिश्चन्द्र को उसी श्मशान का काम सौंपा गया। दिन रात वह श्मशान धधका करता था, वहां काम अधिक था। दुःख से, शोक से और श्मशान के कामों की अधिकता से राजा का शरीर दुर्बल हो गया, चिता का भस्म समस्त शरीर में लग जाने से उनकी मूर्ति काली और भयङ्कर हो गई थी। रात दिन में विश्राम के लिए बहुत ही थोड़ा समय मिलता था। इस प्रकार श्मशान में रहते राजा को एक वर्ष व्यतीत हो गया।

रानी और राजकुमार को राजा की कोई खबर नहीं। वे कहां हैं, कैसे हैं, इन बातों का उन लोगों को पता नहीं। इस कारण वे भी बड़े दुःख से किसी प्रकार दिन काट रहे थे। एक दिन राजकुमार रोहिताश्व अपने साथियों के साथ कहीं घूमने गया था, वहां से लौटने के समय अपने स्वामी की प्रसन्नता के लिये उसने कुश और फूल आदि ले लिये। सब लोग चले, थोड़ी दूर चलने पर राजकुमार को प्यास लगी और वह कुश आदि रखकर एक तालाब में पानी पीने गया पानी पीकर वह लौटा और ज्यों ही कुशादि लेकर चलना चाहता था कि एक सांप ने उसे काट लिया और वह मर गया। उसके साथी रोहिताश्व की यह दशा देखकर चिन्तित हुए और भयभीत भी। पर वे कर ही क्या सकते थे, वे भी तो बालक थे। रोहिताश्व को वे वहीं छोड़कर चले आए।

रोहिताश्व को सांप से कटवाने का अभिनय भी विश्वामित्र ने ही किया था। विश्वामित्र के लिए क्या कहा जाय वे महर्षि

बनना चाहते हैं पर उनका हृदय क्रूर राक्षस को भी मात करता है। सब कुछ कर चुके। रानी बेची गयीं, राजकुमार बेचे गए, राजा स्वयं भी बिके पर विश्वामित्र का हृदय ठंडा नहीं हुआ। रानी का सहारा राजकुमार को भी विश्वामित्र की प्रसन्नता के लिये प्राण देना पड़ा। सचमुच विश्वामित्र अपने कार्यों के उदाहरण आप ही हैं।

रोहिताश्व के साथियों से रानी ने उसके मरने की खबर सुनी। एक असहाय माता अपने पुत्र की मृत्यु से कैसी व्याकुल हो सकती है यह बात लिखने की नहीं केवल समझने की है। रानी मूर्छित होकर गिर पड़ी। अपने मृत पुत्र के शरीर को देखना चाहती है पर आज वह दासी है, उसे अपने स्वामी के यहां धंधा करना पड़ता है। वह बिकी हुई है, वह अपने स्वामी की आज्ञा से मृत पुत्र को देखने जा सकेगी, पर स्वामी आज्ञा तब देगा जब उसका काम धँधा हो जायगा। क्या स्वामियों का हृदय इतना निष्ठुर होता है कि उसमें मानवी सहानुभूति भी नहीं होती। धन्य संसार! धन्य संसारवासी! रानी को आधी रात बीतने पर आज्ञा मिली वह अपने मृतपुत्र के मृत शरीर के पास गयी और वहां जा कर शव को गोद में लेकर विकल होकर रोने लगी।

बड़ी देर तक रानी वहां रोती कलपती रही, पर रोने कलपने से क्या कुछ लाभ होता है। बड़ी रात बीत गयी थी। वहां मुनि जी आए और रानी से कहा रोती क्या है शीघ्र अपने पुत्र का अग्नि संस्कार करदे, नहीं तो प्रातःकाल होने पर चाण्डाल मृतक

जलाने का कर मांगेगा तो तू कहां से लावेगी। इस समय रात है, कोई देखेगा भी नहीं। तू अपने पुत्र का अग्नि संस्कार कर चली आवेगी। रानी पुत्र को लेकर श्मशान पर आयी, वहां आकर रानी लकड़ी इकट्ठी करने लगी। रानी यह बात नहीं जानती थी कि राजा हरिश्चन्द्र चाण्डाल के यहां नौकर हैं और उन्हें श्मशान का काम सौंपा गया है। राजा भी ऐसे हो गये थे, उनका चेहरा ऐसा बदल गया था कि पहिचानना मुश्किल था। चिता बनाकर रानी ने पुत्र का शव रखा और उसमें आग लगाने का वह उपाय करने लगी।

राजा हरिश्चन्द्र भी श्मशान में बैठे थे। उन्होंने रानी के कार्य को दूर ही से देखा। वे दौड़कर वहां आये और आग बुझाकर उन्होंने कहा, तू कौन है। कहां से आयी है? बिना कर दिये तू श्मशान में शव जलाना चाहती है। मैं मालिक की ओर से कर वसूल करने के लिये ही श्मशान में रहता हूं, अतः मैं बिना कर लिये मुर्दा न जलाने दूंगा। रानी ने कहा मेरे पास कर देने के लिये कुछ भी नहीं है। अतएव कृपा कर मुझे अपने पुत्र का शव जलाने दो। यह कहते कहते रानी का गला भर आया। उनसे रहा नहीं गया। वे रोती हुई कहने लगीं—हा राजश्रेष्ठ सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की रानी की आज यह दशा! आज श्मशान में अपने पुत्र के दाह करने की भी शक्ति नहीं। बेटा, यह किस पाप का परिणाम है। नाथ आज आप कहां हैं। आपकी रानी किस दशा में पड़ी है आपको क्या मालूम। राजर्षि हरिश्चन्द्र का राज्य

नाश, बन्धु त्याग, भार्या पुत्र का विक्रय यह पुण्यफल है! विधाता! कैसी तुम्हारी विवेचना है।

इन बातों को सुनते ही राजा मूर्छित होकर गिर पड़े। थोड़ी देर में उनकी मूर्छा दूर हुई। उन्होंने रानी की ओर देखा। पुनः वे मूर्छित हो कर गिर पड़े। वे बड़ी देर तक मूर्छित अवस्था में पड़े रहे। बहुत देर के बाद मूर्छा दूर होने पर राजा पुत्र को देख कर विलाप करने लगे। पुत्र के गुणों का, पुत्र के सौन्दर्य का स्मरण कर राजा बहुत ही दुखित हुए। पुनः वे मूर्छित हो गए। राजा को वहां मूर्छित दशा में देख रानी ने सोचा कि यह कौन है? क्या विद्वन्मानस हंस महाराज हरिश्चन्द्र ये हो हैं? निःसन्देह ये वही महा पुरुष हैं, पर ये श्मशान में कहां? सत्यवादी राजर्षि हरिश्चन्द्र श्मशान में क्यों आये! हाय विधि की विडम्बना कैसी अनोखी है।

पुत्र की यह दशा, पति की यह दशा, इस प्रकार रानी सोचती हुई मूर्छित होकर गिर पड़ीं। मूर्छा भङ्ग होने पर रानी ने कहा, धिक्कार है दैव को, मर्यादाहीन निर्दय! इन देवोपम राजा को तूने चाण्डाल बना दिया यह तेरी कैसी लीला है। जो राजा पहले बहुमूल्य वस्त्रों पर पैर रखते थे आज वे ही इस भयङ्कर अपवित्र श्मशान में—जहां हड्डियां बिखरी हुई हैं, अधजले मज्जा मांस आदि फैले हुए हैं—घूम रहे हैं। इसके बाद रानी को मूर्छा आगई।

राजा ने कहा—प्रिये! जिस प्राणनाथ का तुम स्मरण करती हो वह वज्र हृदय हरिश्चन्द्र मैं ही हूं। कहां मेरा राज्य, कहां यह

चाण्डाल की नौकरी। मेरे समान इस संसार में कोई भी दुःखी न होगा। प्रिये, तुम मुझे मेरे प्राणों से भी प्रिय हो और मेरा यह पुत्र भी प्राणाधिक प्रिय है। पर इसका दाह करने के लिए मालिक का कर देना आवश्यक है। इसके लिये तुम भी असमर्थ हो और मैं भी। ऐसी दशा में स्वामी की आज्ञा के बिना इसका दाह नहीं हो सकता। अपने शरीर, बन्धु, पुत्र, स्त्री के लिये जो अपने स्वामी का अहित करता है वह मनुष्य महा अधम समझा जाता है! अतएव तुम यहीं बैठो, तब तक मैं अपने स्वामी से आज्ञा ले आऊँ। रानी को इस प्रकार समझा कर राजा वहां से चले गये।

अब भी विश्वामित्र को सन्तोष नहीं हुआ। वे ब्राह्मण के रूप में श्मशान में उपस्थित हुए, उन्होंने रानी को पिशाच का भय बतलाया। रानी डर गई और अपने पुत्र का शव लेकर पास ही के मन्दिर में चली गई। वहां जाने पर रानी मूर्छित होकर सो गई। अच्छा अवसर देखकर विश्वामित्र ने राजकुमार का पेट फाड़ दिया. अंतड़ियां निकाल लीं, राजकुमार की अंतड़ियां रानी के मुँह पर रख दीं और उसके शरीर पर खून छींट दिया। इतना करने पर शंख बजा कर आपने लोगों को एकत्रित किया। शंख का शब्द सुन वहां कई लोग आकर उपस्थित हो गए। उन लोगों ने जिस दशा में रानी को देखा उस से उन लोगों को विश्वास हो गया कि यह कोई राक्षसी है और इसीने इस बालक का बध किया है। लोग रानी से तरह तरह के प्रश्न पूछने लगे। पर रानी बड़ी दुरवस्था में थी। वह इन ग्राम समालोचकों का उत्तर भला क्या

देती। इससे यह भाव लोगों के मन में और दृढ़ हो गया कि यह बाल घातिनी राक्षसी है, खाने के लिये किसी का बालक मार कर इस देवालय में आई है।

इस विषय में लोगों में बड़ी देर तक तर्क वितर्क होता रहा। अन्त में सर्व सम्मति से यही निश्चय हुआ कि यह बालघातिनी राक्षसी है और जनता के कल्याण के निमित्त इसे मरवा डालना उचित है। इस सम्मति के पास होने पर यह खबर बीरबाहु के पास भेजी गयी और उनसे अनुरोध किया गया कि इसे आप शीघ्र मरवा डालने की व्यवस्था करें। बीरबाहु इस सर्व सम्मत प्रस्ताव को कार्य रूप में परिणत करने के लिये हरिश्चन्द्र को बुलवाना ही चाहते थे कि उसी समय हरिश्चन्द्र स्वयं जाकर उपस्थित हुए। हरिश्चन्द्र जिस दुःख से व्याकुल होकर स्वामी के पास गये थे उसकी चर्चा तक वे न करने पाये और स्वामी ने भी हरिश्चन्द्र के आने का कारण पूछना उचित न समझा। हरिश्चन्द्र को देखते ही उन्होंने आज्ञा दी कि हे दास श्मशान के पास एक राक्षसी आयी है वह बालघातिनी है। उसे मारने की मैं आज्ञा देता हूँ। जब वह तुम्हारे पास आवे तो उसे मार डालना।

राजर्षि हरिश्चन्द्र को आज यह स्त्री वध करने का काम सौंपा गया। हरिश्चन्द्र इस आज्ञा को सुनते ही घबड़ा गये। वे अपने दुःख को थोड़ी देर के लिए भूल गये। आज तक उनके हाथ में श्मशान से कर वसूल करने का ही काम था परन्तु आज उन्हें यह एक नया काम सौंपा जा रहा है। वह काम भी कैसा नितान्त

जघन्य। राजा स्वामी की इस आज्ञा को सुनते ही कांपने लगे। कांपते कांपते उन्होंने कहा यह काम मुझ से न हो सकेगा। आप की आज्ञा से मैं कठिन से भी कठिन काम कर सकता हूं, पर इस काम को करने के लिए साहस नहीं होता।

चाण्डाल ने कहा—यह तलवार लेकर तू जा, उसको मार डाल। वह लड़कों को भयभीत करती है। ऐसी दुष्ट राक्षसी की रक्षा नहीं करनी चाहिये। उसने कई बालक मारे हैं उस एक के मार डालने से बहुतों की रक्षा होगी। लोगों का भय मिट जायगा।

हरिश्चन्द्र ने कहा—स्त्रियों की सदा रक्षा करनी चाहिये। मैंने जन्म से ही स्त्री वध न करने का व्रत ग्रहण किया है। कोई भी कठिन काम हो मैं कर सकता हूं पर स्त्री वध करना मेरे लिए कठिन काम है।

चाण्डाल—तू चाण्डाल का दास है, अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करना तेरा धर्म है। ले यह खड्ग और जा कर उसका सिर काट डाल।

स्वामी की आज्ञा सुनकर राजा की विलक्षण दशा हो गयी, वे कुछ उत्तर न दे सके। इसलिए नहीं कि स्वामी की आज्ञा शास्त्रानुकूल है किन्तु इसलिए कि यह स्वामी की आज्ञा है इसके विरुद्ध दास की कोई भी युक्ति टिक नहीं सकती। वे सिर नीचा किये हाथ में तलवार लेकर श्मशान आए। वहाँ आने पर उन्होंने देखा कि रानी ही राक्षसी बनायी गयी है। कई सिपाही पकड़ कर उसे श्मशान में छोड़ कर चले गये। धीरता की भी सीमा होती है। रानी

पर कितनी विपत्तियां लगातार आयीं जिनका स्मरण करने वाला दुःखी हो जाता है घबड़ा जाता है। फिर उस रानी की जिस पर लगातार विपत्तियां आ रही हैं क्या दशा हुई होगी। रानी पागल हो गयी थीं, वह अपनी सुध बुध खो चुकी थीं—चीत्कार कर रही थीं, राजा को देखते ही उनके गले से लग कर वे चिल्ला चिल्ला कर रोने लगीं। रानी ने कहा—महाराज, महाराज, यह सब क्या है? क्या यह सब सत्य है या स्वप्न है? आप इसे जो समझते हों सो कहें। मेरा मन बहुत व्याकुल हो गया है। मेरी समझ में कोई बात नहीं आती। धर्मज्ञ, यदि यह सब सत्य है तो धर्माचरण का परिणाम बड़ा ही बुरा है, क्या धर्मात्मा लोग इसी फल के लिए धर्माचरण करते हैं? क्या धर्म अपने सेवकों के सामने इसी रूप में परिणत होता है? यदि है तो उसका रूप बड़ा ही भयानक है, बड़ा ही दुखद है। ब्राह्मण देव की पूजा और सत्यपालन आदि भी हमें व्यर्थ ही मालूम पड़ते हैं। जब धर्म नहीं, फिर सत्य कहां, सत्य तो धर्म ही का अंग है।

रानी ने यह सब शोकावेग में कह कर अपनी दशा का वर्णन किया। राजा ने अपनी स्त्री को निरपराधिनी समझा। पर निरपराध होने से क्या होता है। स्वामी की आज्ञा थोड़े ही टल सकती है। स्वामी ने उसे अपराधिनी समझ लिया। अब वह निरपराधिनी कैसे हो सकती है। अब इसके वध करने की आज्ञा नहीं टल सकती। इन बातों को सोचने से राजा पागल हो गए। वे चारो ओर आंखे फाड़ फाड़ कर देखने लगे, पर थोड़ी ही

देर के बाद मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर पड़े। होश आने पर रानी ने उनसे कहा—महाराज, आप मुझे मार कर अपने स्वामी की आज्ञा का पालन कीजिये। स्वयं सत्य का नाश न कीजिये।

राजा पुनः मूर्च्छित हुए। मूर्च्छा भंग होने पर राजा ने अपने को बहुत सम्भाला तदनन्तर उन लोगों में इस प्रकार बातचीत हुई। राजा ने कहा—प्रिये जिस काम को मुँह से कहना कठिन है वह काम कैसे किया जा सकता है।

रानी—प्रभो, यदि मैंने सत्कर्म किये हों तो दूसरे जन्म में भी आप ही मेरे पति हों, रोहिताश्व के समान पुत्र, वशिष्ठ के समान गुरु और विश्वामित्र के समान याचक मिले। महाराज आपकी तलवार मेरे गले में मोती की माला की तरह मालूम पड़ेगी। इस-लिये आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें। अपने स्वामी की आज्ञा के लिये तैयार हो जायं।

राजा ने कहा—यदि शुद्ध चित्त से हमने अपने स्वामी की आज्ञा का पालन किया हो तो ईश्वर हम लोगों का कल्याण करेंगे, थोड़े ही समय में हम लोग स्वर्ग में मिलेंगे। यह तलवार हम लोगों के वियोग को नहीं बढ़ावेगी।

राजा ने इस प्रकार अपने को धैर्य दिया और वे परमेश्वर का ध्यान कर रानी पर तलवार चलाने के लिये उद्यत हुये। राजा ने तलवार उठायी। राजा तलवार चलाना चाहते हैं, उनकी आंखें बन्द हैं, हृदय निस्पन्द है, मन कामना-शून्य है, बुद्धि विचार-शून्य है।

राजा की ऐसी दशा थोड़ी ही देर के लिये रही, सहसा उनकी आंखें खुल गयीं, उन्होंने अपने सामने धर्मराज, इन्द्र और विश्वामित्र को खड़े देखा। धर्मराज ने कहा—महाराज साहस न कीजिये, बहुत हो चुका, आपने बड़े बड़े कष्ट उठाये, आपकी मानसिक वेदनाओं का अन्त नहीं, पर आप अपने सत्य धर्म से तिलमात्र भी विचलित न हुए। आप धन्य हैं! आपने अपने सत्य पालन के द्वारा सभी देवताओं को अपने वश में कर लिया है। आपने उन सनातन लोकों को जीत लिया है जिनका प्राप्त होना अन्य मनुष्यों के लिये असंभव है। यह सब आपने अपने सत्य बल से प्राप्त किया है। आपके बलवान और हठी शत्रु विश्वामित्र जी हार गए। उनके भाण्डार की क्रूरताओं का अन्त हो गया।

धर्मराज के इतना कहने के पश्चात् वहां अमृत और पुष्प की वृष्टि हुई। राजकुमार रोहित उठकर खड़ा हो गया। विश्वामित्र ने भी प्रसन्न होकर राजा को अपने तप का फल दिया। माया नष्ट हुई। क्रूरताएँ जल गयीं। मानसिक कुवृत्तियों का लोप हो गया, सत्य का उज्जवल प्रकाश हुआ। धार्मिक बल की महिमा घोषित हुई। राजा हरिश्चन्द्र को राज्य मिला। बन्धु बान्धवों से उनकी भेंट हुई। राजा हरिश्चन्द्र अपने कुटुम्बियों के साथ अयोध्या आये और बहुत दिनों तक उन्होंने धर्मपूर्वक अयोध्या का राज्य किया। विश्वामित्र पुनः तपस्या करने लगे।

लोक और परलोक का साधन मानवी उद्देश्य है। लोक साधन के लिए नीति और परलोक साधन के लिए धर्म का अनुष्ठान

आवश्यक है। नीति और धर्म ये दोना भिन्न भिन्न होने पर भी समय समय पर एक दूसरे के अनुयायी होते देखे गये हैं। जिस समय समाज का जैसा संगठन था समाज का जैसा उद्देश्य था उसी के अनुसार नीति और धर्म के प्रति लोगों का भाव भी रहा। कभी नीति धर्म की अनुयायिनी रही और कभी धर्म नीति का अनुयायी रहा। कभी समाज ने लोक सुख साधन ही अपना प्रधान उद्देश्य बनाया और कभी परलोक सुख साधन को ही मुख्यता मिली।

राजा हरिश्चन्द्र के जीवन की घटनाएं जिस समय हुई थीं, वह समय धर्म प्रधान था, नीति उसकी अनुयायिनी थी, उस समय के लोग परलोक सुख साधन को ही प्रधान कर्तव्य समझते थे। राजा हरिश्चन्द्र का जीवन इस बात का आदर्श है। इनके जीवन में दोनों बातों का सम्मेलन दिखाया गया है। राजा पहले नीति को प्रधान मानते थे और धर्म को उसका अङ्ग। नीति के लिए, लोक सुख के लिए धर्म का रूपान्तर करना ये आवश्यक समझते थे। वरुण से प्रतिज्ञा करके भी उसके पालन में आगा पीछा करते रहे। कैसा पशु बलिदान के योग्य होता है और कैसा नहीं आदि अनेक प्रकार के तर्क उपस्थित करते रहे। राजा प्रतिज्ञा-पालन करना चाहते थे धर्म के लिए नहीं किन्तु लोक लज्जा के भय से, देवता के डर से। अन्त में इस आगा पीछा में राज-पुत्र राजा से बिगड़ गया, वह वन में चला गया। राजा को जलोदर का रोग हो गया। अब प्रतिज्ञा पालन करने का दुष्परिणाम उनकी

समझ में आगया। वे पुत्र का बलिदान करने के लिए तैयार हुए। पर पुत्र मिले कहां से, अन्त में रुपया ही पुत्र बनाया गया। रुपयों की कमी नहीं, लोभ से भद्दा कर्म करने वाले भी संसार में सदा से मिलते आ रहे हैं। राजा ने रुपये से एक लड़का मोल लिया और उसका बलिदान करना निश्चित किया, इसका फल जो हुआ वह पीछे लिखा गया है। राजा को सफलता मिली, उनका रोग दूर हुआ सही, पर क्या राजा को शान्ति मिली, जिस लोक-सुख के लिए राजा धर्म की अवहेलना करते थे, धर्म को नीति का अनुयायी बनाते थे वही सुख उन्हें न मिला, शरीर ठीक नहीं, रोगी शरीर भला संसार का सुख क्या भोग सकता है।

राजा हरिश्चन्द्र के पूर्व जीवन की यह घटना इस बात को सिद्ध करती है कि लौकिक सुख के लिए धर्म का तिरस्कार अनुचित है। लौकिक सुख भी धर्म से होता है, नीति को प्रधानता देना किसी समय भी उचित नहीं। मनुष्य यदि लोक और परलोक में सुख चाहता है तो धर्म का अनुष्ठान करना चाहिये, अपने प्रत्येक कार्य में धर्म को प्रधानता देनी चाहिये। धर्म ही लोक और पर-लोक सुख साधन की प्रधान सामग्री है। नीति से सफलता मिल सकती है पर वह सफलता महत्व-हीन है, वह सफलता नीरस है, वह सफलता केवल कहने की बात है, वह केवल शब्दों से प्रकाशित की जा सकती है, उसका उपभोग नहीं हो सकता, क्योंकि उसका कुछ रूप नहीं। ऐसी सफलता सफलता कही जा सकती है पर उससे तुष्टि नहीं हो सकती।

इसके पश्चात् राजा हरिश्चन्द्र का दूसरा जीवन प्रारम्भ होता है। वे स्वप्न देखते हैं कि उन्होंने किसी बड़े क्रोधी ब्राह्मण को राज्य दे दिया। प्रातःकाल हुआ। बात सपने की थी, संसार में सिवा राजा हरिश्चन्द्र के दूसरा कोई इस बात को जानता भी नहीं था। बात आसानी से छिप सकती थी। सपने की बात के लिए किसी क़ानून में दण्ड नहीं। सपने में यदि किसी ने हत्या कर दी तो वह पकड़ा नहीं जाता, वह मुलज़िम नहीं समझा जाता। फिर सपने का दान कैसे हो सकता है, उसके लिए चिन्ता की कौन बात, क्रोधी ब्राह्मण को ढूंढ़वाने की व्यवस्था की क्या आवश्यकता! फिर राजा हरिश्चन्द्र के लिए! जिन्होंने सच्ची प्रतिज्ञा—देवता के सामने की हुई प्रतिज्ञा—से बचने की तदबीर सोची थी, युक्तियां निकाली थीं। पर आदर्श बदल गया था। नीति पर से राजा का विश्वास जाता रहा था, धर्म का अनुष्ठान प्रधान था, राजा यह बात समझ गये थे कि धर्म का पालन निष्काम भाव से करना चाहिए, इसके लिए चाहे कितनी ही विपत्तियां क्यों न झेलनी पड़ें। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर राजा हरिश्चन्द्र ने जो अद्भुत काम किये वे संसार प्रसिद्ध हैं। उनका संक्षेप से यहां भी उल्लेख किया गया है।

राजा ने सत्य स्वरूप धर्म का निष्काम रूप से पालन किया। दुनियाँ एक ओर थी और राजा हरिश्चन्द्र एक ओर। देवलोक का सब से बड़ा शक्तिशाली इन्द्र हरिश्चन्द्र का विरोधी है, वह उन्हें सत्य पथ से डिगाना चाहता है, स्वयं धर्म भी जिनकी आराधना हरिश्चन्द्र करते हैं उनसे परीक्षा के बहाने दुश्मनी कर रहे

हैं। उनके लिए राजा हरिश्चन्द्र की तरफ़दारी करना उचित था पर वह उनसे नहीं हो सका। उन्होंने उस समय राजा को सताया और उनका वह सताना परीक्षा समझा गया। जिद के पक्के ब्रह्मर्षि विश्वामित्र राजा हरिश्चन्द्र से नाराज़ हैं, वे हरिश्चन्द्र को नीचा दिखाने के लिए तरह तरह के उद्योग करते हैं, एक ओर इन बड़े बड़े शक्तिशालियों का दल है, दूसरी ओर अकेला, राज्य-गृह-बन्धु-बान्धव-हीन तथा चाण्डाल-दास हरिश्चन्द्र हैं। कितना बेजोड़ सामना है। पर राजा हरिश्चन्द्र शत्रुओं के बल की ओर नहीं देखते, उनकी क्या दशा हो रही है और होगी इस बात पर भूलकर भी विचार नहीं करते, उन्होंने धर्म पालन करना अपना कर्तव्य समझ रखा है। अनेकों कठिनाइयां, अनेकों दुःख उनके सामने आये हैं, अयोध्या की महारानी को दासी रूप में उन्होंने देखा है, अयोध्या के राजकुमार को घसीटे जाते हुए उन्होंने देखा है, स्वयं भी चाण्डाल के यहां दास होकर श्मशान की दारोगाई करते हैं। क्या ये कम दुःख हैं। पर राजा हरिश्चन्द्र विचलित नहीं हुए। यह देखकर शत्रुओं का दल व्याकुल हुआ। उसे अपना कर्तव्य भूल गया। हरिश्चन्द्र के प्रिय पुत्र पर चढ़ाई हुई। सांप के कांटने से वह मर गया। श्मशान में रानी उसे ले गयीं, राजा ने पुत्र को पहचाना, रानी को पहचाना। दुःख हुआ, पर कर्तव्य से हरिश्चन्द्र विचलित न हुए। राजा का धर्म-ज्ञान नष्ट नहीं हुआ। राजा विजयी हुए, शत्रुओं का गर्व चूर हो गया। उन्हें अपनी क्रूरता देख लज्जा हुई, उन्हें अपनी नीचता खटकने लगी। पाप करते करते हृदय दुर्बल

हो गया था, धार्मिक को सताते सताते धर्म भाव लुप्त हो गया था। विजय कहां से हो, हार की मार खानी पड़ी। वे सब उसी श्मशान में राजा हरिश्चन्द्र के पास आये और उन लोगों ने अपनी हार स्वीकार की। अयोध्या का ही राज्य नहीं किन्तु हरिश्चन्द्र को स्वर्ग राज्य में प्रधान स्थान मिला। जो बात किसी मृत्युलोक वासी के लिए नहीं हुई थी वह बात राजा हरिश्चन्द्र के लिए हुई।

राजा हरिश्चन्द्र ने अपने इस उत्तम जीवन से संसार को बतलाया है कि धर्मपालन के लिए कितना त्याग करना चाहिए, धर्म का मूल्य कहां तक देना चाहिए।

भीष्म पितामह

स महापुरुष को कौन नहीं जानता। यह चन्द्रवंशी महाराजा शान्तनु के पुत्र थे। भागीरथी इनकी माता थीं। आठ वसुओं में ये एक वसु के अवतार थे। गंगा अपना नियम पूरा करके स्वर्ग को जाने लगीं तब शान्तनु की इच्छा से इन्हें भी अपने साथ स्वर्ग लेती गयीं। गंगा जी ने लालन पालन कर उन्हें बड़ा किया। अस्त्र शस्त्र विद्या में भी निपुणता प्राप्त करायी। तदनन्तर परशुरामजी से धनुर्वेद पढ़ाकर प्रवीण किया। चौबीस वर्ष की अवस्था के बाद गंगा ने उन्हें महाराज शान्तनु को सौंपा। वे गंगा के पुत्र थे, इसी से उन्हें गांगेय भी कहते हैं। वे ब्रह्मचर्य्य के प्रभाव से देव सरीखे देदीप्यमान्य दिखाई पड़ते थे। इसी से देवव्रत नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

गंगा के स्वर्ग चले जाने पर शान्तनु को उनका विरह असह्य हो गया। पुत्र सौंप कर जब वे चली गयीं तब और भी अधिक शान्तनु को दुःख हुआ। परन्तु निरूपाय थे। एक दिन शान्तनु यमुना किनारे शिकार खेलने गये थे। वहां एक सुन्दरी तरुणी कन्या को उन्होंने देखा और उसके साथ विवाह करने की अपनी इच्छा प्रकट कर उससे पूछा—तू किसकी कन्या है? उस सुन्दरी ने कहा—मैं धीवर की कन्या हूँ। शान्तनु ने बड़ी बारीकी से

उसकी छान बीन की। पीछे मालूम हुआ कि यह क्षत्रिय कुमारी है, किसी कारण वश धीवर के घर पालित हुई है। निश्चय हो जाने पर उस धीवर से राजा ने कहलाया कि अपनी पुत्री का विवाह मेरे साथ कर दो। धीवर ने कहा—मेरी पुत्री सत्यवती का पुत्र राज्य का अधिकारी हो तो मैं तुम्हारे साथ विवाह कर दूं। यह सुन कर शान्तनु ने मन में कहा—हैं! गांगेय ऐसे गुणवान पुत्र को राज्याधिकार से यदि मैं वञ्चित करूं तो मेरे समान स्त्री लोभी और कौन होगा; नहीं नहीं यह कार्य नहीं करूंगा। ऐसा विचार कर राजा अपनी राजधानी में आये। पर राजा का मन सुखी नहीं हुआ, वे दिनों दिन क्षीण होने लगे।

गांगेय पिता की उदासी देख कर उसका कारण समझ गये। वे धीवर के पास गये और उससे बोले—तुम अपनी पुत्री का व्याह मेरे पिता के साथ कर दो। मैं अपना राज्याधिकार छोड़ देता हूँ। तुम्हारी पुत्री के पुत्र का मैं दास होकर रहूँगा। उसके मस्तक पर मैं छत्र धरूंगा। धीवर ने कहा—तुम्हारा पिता पर अटल स्नेह है। इसलिए तुम राज्याधिकार छोड़ रहे हो किन्तु जब तुम्हारे प्रतापी पुत्र होंगे तब वे हमारे धेवते को मार कर राज्य छीन लेंगे। फिर तुम्हारी प्रतिज्ञा का विश्वास कैसे किया जाय। भीष्म ने कहा—मेरे पुत्र ऐसे नहीं हो सकते। इस पर भी यदि तुम्हें सन्देह हो तो मैं आजन्म ब्रह्मचारी रहूँगा। विवाह नहीं करूंगा, फिर मेरे पुत्र कहां से होंगे? अतएव तुम निर्भय होकर पिताजी को अपनी पुत्री दान कर दो। इस बात को सुन कर देवताओं ने गांगेय पर

पुष्प वृष्टि की और कहा कि, "अरे यह बड़ी भीष्म प्रतिज्ञा करने वाला है"! उस राज पुत्र ने ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने तथा राज्य से अपना हक़ हटाने की जो भीष्म प्रतिज्ञा की, इसीसे उसका नाम भीष्म पड़ा। इस प्रतिज्ञा कराने के उपरांत धीवर ने सत्यवती को भीष्म के हाथ सौंप दिया। भीष्म ने उसका अपनी माता के समान सम्मान किया। वे उसे रथ में बैठाकर पिता के निकट ले आये और प्रसन्नता पूर्वक उन्होंने पिता के साथ उसका विवाह करा दिया। शान्तनु अपने पुत्र की ऐसी पितृ भक्ति देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए, और बोले-बेटा, मैं वरदान देता हूं कि तेरी इच्छा-मृत्यु होगी।

सत्यवती से शान्तनु के चित्रांगद और विचित्रवीर्य नाम के दो पुत्र हुए। शान्तनु स्वर्गवासी हो गये। भीष्म ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार चित्रांगद को राज्यगद्दी पर बैठाया। उस समय चित्रांगद बालक थे। इसलिए राज्य के समस्त कार्यों की देख भाल भीष्म स्वयं करने लगे। राजा चित्रांगद एक चित्रांगद नाम के गंधर्व से युद्ध करते मारे गये। तब भीष्म ने राज्यासन पर विचित्रवीर्य को बैठाया। उसने विवाह करने की इच्छा प्रकट की। उसी समय यह सुना गया कि काशीराज की कन्याएँ स्वयंवरा होंगी। यह सुनते ही भीष्म वहां गये। वहां सहस्रों राजाओं को जीतकर काशिराज की तीनों पुत्रियों को हरकर हस्तिनापुर ले आये। विवाह की तैयारी होने लगी। तब काशिराज की पुत्री अम्बा ने कहा—मैं मन में शाल्वराज को वर चुकी हूं। यह सुन भीष्म ने उसे रथ पर बैठा कर सादर शाल्वराज के पास भेज दिया। शाल्व ने

कहा—तुम्हारा भीष्म ने हरण किया है अब मैं तुम्हें वर नहीं सकता। अम्बा पुनः हस्तिनापुर लौट आयी। इधर अम्बिका और अम्बालिका का विवाह विचित्रवीर्य के साथ हो चुका था। अम्बा ने कहा शाल्वराज हमें अंगीकार नहीं करते, इससिए अब तुम हमारे साथ विवाह करो। भीष्म ने कहा—मेरे निकट तो स्त्री मात्र भगिनी के समान है। दूसरे मैंने प्रतिज्ञा की है कि मैं आजन्म ब्रह्मचारी रहूंगा। अम्बा से यह अपमान सहा न गया। वद्रिकाश्रम में जाकर उसने घोर तप किया और परशुराम को प्रसन्न किया। तब परशुराम अम्बा को साथ लेकर हस्तिनापुर आये। परशुराम का आना सुनकर भीष्म ने जाकर सादर प्रणाम किया। फिर सादर नगर में लाकर विधिवत् पूजन किया। परशुराम ने कहा—अम्बा के साथ तुम विवाह करो अथवा मेरे साथ युद्ध करो। भीष्म ने कहा कि मैंने तो सब स्त्रियों को माता और भगिनी के समान समझ रखा है फिर किस तरह से विवाह करूं? आप की आज्ञा हो तो युद्ध करूं। पुरशुराम ने कहा कि युद्ध कर। भीष्म ने परशुराम के साथ २७ दिन युद्ध किया। अन्त में परशुरामको उन्होंने जीता। परशुराम ने भीष्म को हृदय से लगा कर कहा—मेरी विद्या तुझ में पूर्ण विकसित हो गयी यह देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। पुनः उन्होंने अम्बा से कहा—अम्बा मेरा नियम अब पूरा हो गया। अब तू अपने घर जा। पीछे परशुरामजी अपने आश्रम में गये। विचित्रवीर्य भीष्म की अनुमति से उत्तम प्रकार से राज्य करने लगे। थोड़ी अवस्था में ही उन्हें क्षयरोग हो

गया, और वे संतानहीन हो मर गये। इससे माता और स्त्रियों को अत्यन्त शोक हुआ। सत्यवती ने शोक को दमन करके भीष्म से कहा—राज्य गद्दी क्या निर्वंश जायगी, अब तू विवाह कर। भीष्म ने कहा—मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोडूँगा। सत्यवती को अत्यन्त चिन्ता हुई। वे सोचने लगीं अब वंश कैसे चलेगा, अन्त में सोच विचार कर व्यास का उन्होंने स्मरण किया। व्यास तुरन्त आकर प्रकट हुए। व्यास ने सत्यवती की आज्ञा से अपने प्रताप से तीन पुत्र उत्पन्न किये। जो रानियों से थे वे धृतराष्ट्र और पांडु नाम से प्रसिद्ध हुए। एक दासी से भी पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम विदुर पड़ा। भीष्म ने तीनों पुत्रों का यथोचित पालन किया। धृतराष्ट्र जन्मांध थे, इसलिये भीष्म ने पाण्डु को राज्याधिकार दिया। पीछे गांधार देशाधिपति सुबल राज की कन्या गांधारी से धृतराष्ट्र का, कुंति भोज की कन्या कुन्ती और मद्रराज की कन्या माद्री से पाण्डु का विवाह हुआ। धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र और दुःशला नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। पाण्डु के कुन्ती से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तीन पुत्र और माद्री से नकुल और सहदेव दो पुत्र हुए। पाण्डु नाम मात्र के राजा थे। सब कार्य भीष्म ही करते थे। पाण्डु की मृत्यु के बाद भीष्म ने पाण्डव और कौरवों को पढ़ाने का भार कृपाचार्य को सौंपा। पीछे द्रोणाचार्य हस्तिनापुर आये तब भीष्म ने उनका यथोचित आदर कर अपने यहां रक्खा। पाण्डव और कौरवों को तथा अन्य राजपुत्रों को उन्हें सौंप कर कहा—आप इनके गुरु बनें और शस्त्र विद्या सिखा कर युद्ध कुशल करें।

राज्यसिंहासन पर उन्होंने धृतराष्ट्र को वैठाया। युधिष्ठिर को उत्तम गुण युक्त देख कर युवराज वनाया। स्वयं भीष्म राज्य से अलग रहे। भीष्म ने राजव्यवस्था बहुत ही उत्तम की थी। धृतराष्ट्र के पुत्र सब बड़े ही दुष्ट निकले। पाण्डवों में और कौरवों में वचपन से ही द्वेष उत्पन्न हो गया था, दिन पर दिन वह बढ़ता ही गया। भीष्म पितामह हर बात में कौरवों को सब प्रकार से समझाया करते थे। किन्तु धृतराष्ट्र को वह बुरा लगता था। इस कारण वे अधिक नहीं कहते थे। पीछे कौरवों के दुराचार से दुःखित हो पाण्डवों ने आधा राज्य मांगा। भीष्म ने कौरवों को बहुत समझाया कि आधा राज्य दे दो। परन्तु कौरवों ने नहीं माना। इससे युद्ध करने का प्रसंग आया। युद्ध में भीष्म पितामह सर्वदा पाण्डवों की ही विजय चाहते थे। परन्तु स्वयं कौरवों के ही पक्ष में रहे। युद्ध में स्वयं सेनापति वन कर दस दिन जीवित रह कर घोर पराक्रम दिखाया। इनका रथ श्वेत वर्ण का था। युद्ध में सदा धर्म और नीति पर ध्यान रखकर भीष्म ने युद्ध किया। भीष्म की युद्ध नीति धर्म पर अवलम्बित थी। उसका विवरण नीचे दिया जाता है।

रथियों के साथ रथी, पैदलों के साथ पैदल, सवारों के साथ सवार, हाथी सवारों के साथ हाथी के सवार—इस प्रकार से सब लोग अपने अपने बरावर वालों के साथ युद्ध करें। युद्ध में कोई कपट नहीं करे। संध्या को युद्ध समाप्त होने पर कोई किसी से बैर न रखे। एक आदमी पर कई मिलकर शस्त्र नहीं चलावें। युद्ध देखने वाले, युद्ध स्थल में बाजा बजाने वाले, रथ

हांकने वाले, दूत, सेवक, लोहार, भूमि खोदने वाले, मूर्छित व्यक्ति तथा शरणागत, असावधान अथवा जिसने थक कर शस्त्र रख दिए हों—इन लोगों पर शस्त्र चलाना वर्जित था। सूर्यास्त हो जाने पर अपने अपने दल के सेनापतियों का कर्त्तव्य था कि वे अपने अपने दल के वीरों से शस्त्र रखवा लें। उपरान्त परस्पर मित्र भाव से मिलें, बोलें। परस्पर एक दूसरे से मिलने के लिये छावनी में आवें जायं। योद्धा यदि परस्पर निन्दा करते हों या ललकारते हों तो तीसरा व्यक्ति उन पर शस्त्र प्रयोग न करे। पहले से जताये विना कोई किसी पर शस्त्र न चलावे। दो आदमी युद्ध करते हों तो तीसरे को बीच में बोलना न चाहिये। भागते हुए वीर पर पीछे से शस्त्र प्रहार न करना चाहिए। इन नीतियों से भीष्म पितामह ने दस दिनों तक युद्ध किया था। ऐसा कहा गया है कि श्रीकृष्ण ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं युद्ध में शस्त्र नहीं ग्रहण करूंगा। परन्तु भीष्म ने तीसरे दिन के युद्ध में वह कौशल दिखाये कि, जिससे घबड़ा कर श्रीकृष्ण को अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी। भीष्म के बाणों के आघात से क्रोधित हो श्रीकृष्ण रथ का चक्का ले कर दौड़े। नवें दिन के युद्ध में जब अर्जुन मूर्च्छित हो गये, तब श्रीकृष्ण ने सुदर्शन चक्र लेकर सब लोगों को कम्पित किया। उस समय भीष्म ने कहा—मैंने अपनी तो प्रतिज्ञा पूर्ण करली। अब आप चाहें तो मुझे मारें, मेरी मुक्ति ही होगी। शिखंडी लगातार भीष्म पर शस्त्र चलाया करता था। परन्तु भीष्म उसकी तरफ़ देखते तक नहीं थे (शिखंडी पूर्व जन्म की अम्बा थी)। दसवें दिन दुर्योधन भीष्म पितामह के खेमे में जाकर

बोला—आप मन लगाकर युद्ध नहीं करते। इस पर भीष्म ने कहा—द्रुपद पुत्र शिखंडी यदि मेरे सामने युद्ध में न हो (उसके हाथ से भीष्म की मृत्यु थी) तो मैं निष्पाण्डवी पृथिवी कर सकता हूं अन्यथा नहीं। इस पर दुर्योधन ने शिखंडी का इतिहास पूछा—तब भीष्म ने आद्योपान्त कथा सुना दी। सुनकर दुर्योधन चला गया। यह खबर पाण्डवों को लगी। आधीरात को युधिष्ठिर भीष्म के खेमे में आये और पाण्डवों के बचने का उन्होंने उपाय पूछा। भीष्म ने कहा कि शिखंडी को आगे कर के अर्जुन मेरे साथ युद्ध करे। तब तो तुम्हारी जय हो सकती है अन्यथा नहीं। अर्जुन ने वैसा ही किया—उनके तीव्र वाणों के आघात से जर-जरित हो भीष्म युद्ध क्षेत्र में गिर पड़े। यह सुनते ही कौरव और पाण्डव शस्त्र रखकर उनके पास आये। दुर्योधन शस्त्र वैद्य ले आया परन्तु भीष्म ने कहा—इस समय मुझे कोई भी स्पर्श न करे। उस समय भीष्म के शरीर में इतने वाण लगे थे कि उनका सर्वाङ्ग पृथिवी से ऊपर वाण शय्या पर पड़ा था। भीष्म ने वाण-शय्या पर पड़े हुए कहा—भाई, मेरा मस्तक लटक रहा है, उसके नीचे रखने को कुछ लाओ। दुर्योधन सुन्दर तकिया ले आया, परन्तु भीष्म ने अर्जुन की तरफ़ देखा और कहा—बेटा! शय्या के योग्य सिरहाना भी दो। अर्जुन ने तीन वाण उनके मस्तक में वेध कर मस्तक ऊपर उठा दिया। भीष्म इससे अत्यन्त प्रसन्न हुए। उप-रान्त जल मांगा। दुर्योधन सोने के पात्र में जल ले आया। यह देख भीष्म ने उसे बहुत धिक्कारा। पीछे अर्जुन की तरफ़ देखा।

अर्जुन ने एक बाण भूमि में मारा। जिससे पाताल गंगा की धारा भीष्म के मुख में पड़ी। इससे भीष्म को बहुत ही संतोष हुआ और अर्जुन को आशीर्वाद दिया—"पुत्र! तेरी मनोकामना पूर्ण होगी।" भीष्म को पिता का वरदान था कि जब तू इच्छा करेगा तब तेरी मृत्यु होगी। कार्त्तिक वदी अष्टमी को भीष्म रण में गिरे थे। उस समय दक्षिणायन था, उत्तरायण होने तक भीष्म बाण शय्या पर पड़े रहे। अब द्रोणाचार्य सेनापति हुए। उनके समय में भीष्म की बांधी युद्ध नीति नहीं रही। मिश्र युद्ध होने लगा। अट्ठारह दिनों तक कौरव पाण्डवों का युद्ध होता रहा। अन्त में पाण्डव विजयी हुए। कौरवों की उत्तरक्रिया युधिष्ठिर ने की। बाद को युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हुआ। किन्तु बन्धुओं के वध का उनके अन्तःकरण में बहुत दुःख हुआ। उसे दूर करने के लिए श्रीकृष्ण ने अनेक उपदेश किये परन्तु युधिष्ठिर का अन्तःकरण शान्त न हुआ। तब श्रीकृष्ण उन्हें भीष्म पितामह के पास ले गये। जिस समय ये लोग भीष्म के पास गये, उस समय ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों का वहां अच्छा समाज एकत्र हुआ था। सब लोगों के सामने ही भीष्म ने युधिष्ठिर को राजधर्म, मोक्षधर्म, दानधर्म, आपद्धर्म के विषय पर व्याख्यान दिया। पीछे उत्तरायण आने पर सब लोगों के देखते देखते अपने चित्त को शान्त करके उन्होंने शरीर त्यागा। मरणकाल पर उनकी अवस्था कितनी थी इस विषय में महाभारत में कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। परन्तु द्रोणाचार्य से उनकी उमर अधिक थी।

भीष्म पितामह से कौरव सभा में द्रौपदी ने जब प्रश्न किया था उस समय उन्होंने अपनी चलती न देखकर कुछ उत्तर नहीं दिया था। इसके सिवाय और किसी प्रसंग में उन्होंने अपनी पवित्र कीर्ति में धब्बा नहीं लगने दिया। सांसारिक विषयों में तथा स्त्री संबन्ध में उनको अपने ब्रह्मचर्यव्रत के कारण अनुभव या ज्ञान नहीं था। इसके सिवाय वे सब विषयों में कुशल थे।

भीष्म ने कभी युद्ध में पीठ नहीं दिखाई। जिस प्रण को उन्होंने किया उसे कभी उल्लंघन नहीं किया। अस्त्र शस्त्र विद्या में उन्हें अर्जुन से भी अधिक ज्ञान था। वे सब गुणों के शिरोमणि थे। ब्रह्म विद्या में तो वे ऋषियों के सदृश थे। वे समर्थ थे, विद्वान थे और नीति कुशल थे। दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण को उनके व्यवहार के कारण वे बहुत ही धिक्कारते थे। परन्तु धृतराष्ट्र के मान रखने और अपना मान भंग होने के भय से चुप रह जाते थे, हुकूमत नहीं करते थे।

भीष्म में एक गुण यह भी था कि वे मनुष्यों की परीक्षा शीघ्र कर लेते थे। विद्वान्, गुणवान के ऊपर उनका अधिक प्रेम रहता था। वे अति वृद्ध हो गये थे। किन्तु युद्ध में युवापुरुष के समान ही युद्ध करते थे। वृद्ध होने पर भी वे बड़े पराक्रम के साथ युद्ध करते थे। उनके एक बाण के आघात से महारथी भी व्याकुल हो जाता था। जिसको लक्ष्य करके वे बाण मारते थे उसको मृत्यु से कोई बचा नहीं सकता था। इसी साहस से वे इतने दिनों तक बाणशय्या पर सोये हुए थे। इतना ही नहीं, ऐसी स्थिति में भी

जब कि शरीर बाणों से विधा है, इतिहास के साथ श्रुति, स्मृति और धर्म शास्त्रों का अनुसरण कर नाना प्रकार के सारगम्य धर्म के उपदेशों से सभा के मनुष्यों को उन्होंने सन्तुष्ट किया, यह क्या कोई कम महत्व की बात है। भीष्म के जन्म से लेकर मरण पर्य्यन्त सभी चरित्र प्रशंसनीय थे। ब्रह्मचर्य व्रत के कारण उनका प्रताप चारो दिशाओं में छाया हुआ था। उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत पालन करके उसे कभी भंग नहीं किया। स्त्रियों पर कभी आंख और शस्त्र नहीं उठाया। अपने आदर्श नियमों को जन्म भर उन्होंने निभाया। यहां तक वे अपने नियम के पक्के थे कि अम्बा ने तप कर भीष्म के मारने की कामना की थी। इसलिये वह द्रुपद के घर जाकर जन्मी, जन्मकाल में वह स्त्री रूप से उत्पन्न हुई थी। पीछे पुरुष हो गयी। इसीसे महाभारत में भीष्म ने उस पर शस्त्र प्रहार करना तो दूर रहा कभी उसके प्रति दृष्टि नहीं उठायी। उसे सामने देखकर वे शस्त्र रख देते थे। शिखंडी को सामने करके अर्जुन उन्हें बड़े तीक्ष्ण बाणों से बेधता था किन्तु भीष्म ने शस्त्र न पकड़ा। अन्त में रण भूमि में गिर पड़े, परन्तु अपना प्रण न छोड़ा।

भीष्म की वक्तृता इतनी मनोरंजक होती थी कि उसे सुनने के लिये बड़े बड़े ऋषि मुनि आते थे, और सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होते थे। जय जय शब्द से दिशाओं को प्रतिध्वनित कर देते थे। अहा! धन्य है ऐसे वीर प्रतापी पुरुष को! धन्य है उनकी माता को! जिसने अपने पवित्र उदर से भीष्म ऐसे प्रतापी पुत्र को

उत्पन्न कर त्रैलोक्य में कीर्ति स्थापित की। धन्य है! भीष्म तुम्हारा संसार में जन्म लेना धन्य है! भगवन्! इस भारत के अस्तमित दिवाकर को उदय करने के लिये पुनः ऐसे वीर जितेन्द्रिय, सत्य-वादी, धीर्य्य, नीतिवान, धर्मात्मा पुरुषों को प्रकट करो! जिससे संसार का मङ्गल हो, कल्याण हो !!

धर्म पराक्रम आदि गुणों में से कौन गुण भीष्म पितामह में प्रधान था, इसका निर्णय कौन कर सकता है। इन्होंने स्वयं रण-क्षेत्र में युद्ध किया, और बड़े बड़े महारथियों को कँपा दिया, भयभीत कर दिया, कितनों को यमराज का अतिथि बनाया। धर्मात्मा के नाम से तो ये अपने समय के एक प्रसिद्ध पुरुष थे। उस समय के लोग धर्म संशय उत्पन्न होने पर भीष्म पितामह की सेवा में उपस्थित होते थे और ये निष्पक्ष अपनी सम्मति प्रकाशित करते थे, राजा धृतराष्ट्र के ये आश्रित थे, पर उसके भी धर्म विरुद्ध कार्यों का य प्रतिवाद करते रहे। राजा दुर्योधन तो इनको अपना हितकारी ही नहीं समझता था, इन पर उसका विश्वास न था और इसका कारण था भीष्म का धर्म प्रवण होना।

भीष्म पितामह संसार में अमर हैं, वे आजीवन ब्रह्मचारी रहे, उनके कोई सन्तान नहीं हुई, पर आज उनको जलाञ्जलि देने वालों की कमी नहीं। जो हिन्दू तर्पण करता है, अपने पितरों के साथ वह भीष्म पितामह को भी जल देता है, अपने पितरों के समान भीष्म पितामह का भी आदर करता है उनमें भी वह वैसी ही श्रद्धा रखता है जैसी अपने पितरों में। सोचिए भीष्म

पितामह का कितना बड़ा परिवार है, भीष्म के पारलौकिक कल्याण चाहने वालों की कितनी बड़ी संख्या है।

भीष्म पितामह ने अपने जीवन में जो कार्य किये हैं वे संसार के लिए आदर्श हैं, वे संसार के लिए पथ प्रदर्शक हैं, वे संसार के लिए शान्तिदायी हैं। पिता के प्रति पुत्र का क्या कर्तव्य है, पिता की वासना पूरी करने के लिए पुत्र को कितना त्याग करना चाहिए, भीष्म पितामह के कार्य इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पितृभक्ति तथा उससे भी अधिक सत्यपालन का इतना उत्कृष्ट उदाहरण मिलना कठिन है।

राजा शान्तनु दूसरा विवाह करना चाहते थे, आवश्यकता कोई न थी, वंश नाश की सम्भावना न थी, भीष्म के समान तेजस्वी धर्मात्मा और वीर पुत्र वर्तमान था। इस व्याह के बदले उनसे बड़ा भारी त्याग करने को कहा गया। वह त्याग था भीष्म को राज्य से वंचित करना। काम कठिन था, भीष्म राजा के प्रिय पुत्र थे, योग्य थे, धर्मात्मा थे, प्रजा के प्रिय थे, और अद्वितीय योद्धा थे, ऐसे मनुष्य के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाना सब का काम नहीं। प्रेम लोकापवाद और भय तीनों ने आकर राजा का गला दबाया। राजा चुप हो गये। वे न तो अपनी इच्छा का ही त्याग कर सकते थे और न अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए कोई उपाय ही कर सकते थे। विवश मनुष्यों की सी उनकी दशा हो गयी। वे पानी में पड़ी नमक की डली के समान धीरे धीरे घुलने लगे।

भीष्म को इस बात की ख़बर हुई। उन्होंने पिता की बुरी दशा देखी, उन्हें अपने कर्तव्य का स्मरण हुआ, और उन्होंने उसका पालन किया। आजीवन ब्रह्मचर्य रहने की और साथ ही राज्य छोड़ने की उन्होंने प्रतिज्ञा की। कितनी उत्कट पितृभक्ति है। कितना उज्ज्वल त्याग है। पिता की एक साधारण इच्छा—सो भी अनावश्यक इच्छा—की पूर्ति के लिए इतना बड़ा त्याग! इसी त्याग ने भीष्म को महान बनाया है। इसी त्याग के कारण भीष्म ने सब से जलाञ्जलि पाने का अधिकार अर्जन किया है। पिता के लिए पुत्र को कितना त्याग करना चाहिए यह संसार को उन्होंने बतलाया और वे हिन्दू संसार के पितामह हुए।

इनके जीवन में कई विकट समय आये, लोगों ने इन्हें समझाया बुझाया, व्याह करने के अनेक गुण बतलाये, वंश-नाश का भय दिखाया, पर ये अचल रहे। अन्त में इनकी द्वितीय माता ने इन्हें व्याह करने की आज्ञा दी। पर भीष्म पितामह अपनी प्रतिज्ञा से विचलित न हुए। उन्होंने माता से कहा—तुम्हारे कारण जो मैंने पवित्र प्रतिज्ञा की है वह तुम्हें मालूम है, उस अपनी प्रतिज्ञा को मैं पुनः दुहराता हूं।

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः
यद्वाप्यधिकमेताभ्यां नतु सत्यं कथञ्चन।
त्यजेच्च पृथिवी गन्धमापश्च रसमात्मनः
ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत्।
प्रभां समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्मताम्

त्यजेच्छब्दं तथाकाशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत्।
विक्रमं वृत्रहा जह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट्
नत्वहं सत्यमुत्स्रष्टुम् व्यवस्येयं कथञ्चन।

मैं त्रिलोक छोड़ सकता हूं, देवताओं का राज्य छोड़ सकता हूं अथवा इनसे भी अधिक यदि कोई वस्तु हो तो उसका भी त्याग कर सकता हूं पर सत्य का त्याग किसी प्रकार भी नहीं कर सकता। पृथिवी गन्ध छोड़दे, जल रस छोड़दे, प्रकाश रूप छोड़दे, वायु स्पर्श गुण को छोड़दे, सूर्य अपना तेज छोड़दे, अग्नि अपनी उष्णता छोड़दे, आकाश शब्द छोड़ दे, चन्द्रमा शीतलता छोड़ दे, इन्द्र अपना पराक्रम छोड़ दे, धर्मराज धर्म छोड़ दे, पर मैं सत्य छोड़ने की इच्छा भी किसी प्रकार नहीं कर सकता।

कितनी कठिन प्रतिज्ञा है, कितना अपने बल का विश्वास है, अपनी इच्छा को कार्य में परिणत करने की कितनी द्विविधा-शून्या आस्था। भीष्म ने ये बातें केवल कही ही नहीं किन्तु करके दिखायीं।

राजा युधिष्ठिर

न्द्रवंशी राजा ययाति के पुत्र पुरु के वंशज पौरव और यदु के पुत्र यादव के नाम से प्रसिद्ध हुए। पौरव वंशी राजाओं में मगध का राजा जरासंध मथुरा का राजा कंस और हस्तिनापुर के कौरव बड़े प्रसिद्ध और प्रभावशाली थे। इसी कुरुवंश में धृतराष्ट्र और पाण्डु हुए। ये दोनों सौतेले भाई थे। धृतराष्ट्र जन्म से अन्धे थे इस कारण पाण्डु को राज्याधिकार मिला। पाण्डु ने कुछ दिनों तक राज्य पालन किया, तदनन्तर वे स्वर्गवासी हुए। उस समय उनके पांचो पुत्र बालक थे, इस कारण राजा धृतराष्ट्र के ही हाथों राज्य का भार सौंपा गया।

राजा धृतराष्ट्र के दुर्योधन दुःशासन आदि सौ पुत्र थे। पाण्डु की दो स्त्रियां थीं, कुन्ती और माद्री। कुन्ती के गर्भ से धर्मराज, वायु और इन्द्र के प्रसाद से यथाक्रम युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तीन पुत्र उत्पन्न हुए। माद्री के गर्भ से अश्विनी कुमारों के प्रसाद से नकुल और सहदेव दो पुत्र उत्पन्न हुए। इन पांचो का लालन पालन कुन्ती किया करती थीं, कुन्ती की शिक्षा के कारण इन पांचो भाइयों में बड़ा प्रेम था, इनमें कभी मनमुटाव नहीं हुआ। युधिष्ठिर सब से बड़े थे, उनकी आज्ञा चाहे वह कितनी ही कठिन

क्यों न हो चारो भाई प्रसन्नता पूर्वक मानते थे। युधिष्ठिर भी उन पर बड़ा प्रेम करते थे सदा उनके सुख का ध्यान रखते थे। ये पाण्डव कहे जाते थे। धृतराष्ट्र और पाण्डु दोनों के पुत्र दोनों ही कुरुवंशी थे इस कारण दोनों ही को कौरव कहना चाहिए, पर धृतराष्ट्र के ही पुत्र कौरव कहे जाते थे और पाण्डु के पुत्रों की पाण्डव नाम से प्रसिद्धि थी।

यह बात ऊपर लिखी जा चुकी है कि पाण्डु की मृत्यु के पीछे धृतराष्ट्र को राज्य का भार दिया और साथ ही पाण्डवों की शिक्षा का भार भी। धृतराष्ट्र स्वयं अन्धे थे। वे उसकी व्यवस्था ठीक ठीक नहीं कर सकते थे, अतएव भीष्म के जिम्मे यह काम सौंप दिया। भीष्म ने कृपाचार्य को अस्त्र शस्त्रों की शिक्षा देने के लिये नियत किया। राजकुमार उनसे अस्त्र विद्या सीखने लगे। भाग्यवश, द्रोणाचार्य वहां आए और उनकी विद्वता पर मुग्ध होकर राजकुमारों ने भीष्म पितामह से उनके आने की चर्चा की। इससे भीष्म पितामह बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने द्रोणाचार्य को अपने यहां रख लिया और राजकुमारों की शिक्षा का भार उनको सौंपा।

युधिष्ठिर स्वभावतः धार्मिक, गम्भीर और दयालु थे। अतएव युद्ध विद्या के ज्ञान प्राप्त करने पर भी ये उसमें कोई अद्भुत चमत्कार न प्राप्त कर सके। हां इनके छोटे भाई भीम और अर्जुन युद्ध विद्या में बड़े निपुण हुए। युधिष्ठिर ने विद्या के अन्य भागों में निपुणता प्राप्त की।

दरिद्र और धनियों का द्वेष बहुत दिनों से चला आता है। अयोग्य योग्यों से सदा जला ही करते हैं। वे योग्यों को नीचा दिखाने का सदा प्रयत्न किया करते हैं। यही बात कौरव और पाण्डवों में हुई। युधिष्ठिर की धार्म्मिकता भीम का शारीरिक बल अर्जुन की अस्त्र निपुणता देखकर सभी लोग इनकी प्रशंसा करने लगे, सभी जगह इनकी ही चर्चा होने लगी, यह बात धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन को बहुत बुरी लगी। वह इन लोगों से भीतर ही भीतर जलने लगा। राजा धृतराष्ट्र भी पाण्डवों से प्रेम करते थे। राजकुमारों की शिक्षा समाप्त होने पर भीष्म विदुर आदि मन्त्रियों की सम्मति से धृतराष्ट्र ने युधि-ष्ठिर को युवराज बनाया। युधिष्ठिर बड़े विनयी धर्मात्मा और दयालु थे। उनके व्यवहार से प्रजा बहुत प्रसन्न हुई। प्रजा में पाण्डवों की और अधिक प्रशंसा होने लगी। यह दुर्योधन के लिये और भी असह्य हुई। उसने अपने साथी कर्ण दुःशासन शकुनि आदि से परामर्श करके पाण्डवों के प्रति अपना कर्तव्य निश्चित किया। धृतराष्ट्र को भी इस बात की ख़बर लगी। वे भी पाण्डवों की वृद्धि तथा उससे अपने पुत्रों का दुःख देखकर दुखी हुए। उन्होंने अपने मन्त्री कणिक से इस विषय में सम्मति पूछी। कणिक बड़े ही कूट नीतिज्ञ थे, उन्होंने पाण्डवों पर गुप्त घात करने की सम्मति दी। दुर्योधन आदि के कहने से धृतराष्ट्र पाण्डवों को वारणावत नगर में भेजने के लिए राज़ी हो गये। दुर्योधन ने पुरोचन नामक अपने एक विश्वासी को पहले से वहां भेज रखा

था, और लाक्षागृह बनाने की तथा मौका देखकर उसमें आग लगाकर पाण्डवों को जला देने की आज्ञा दे रखी थी। एक दिन धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को बुलाकर कहा बेटा, वारणावत में शिवजी का मेला होता है जाकर देख आओ। युधिष्ठिर भाइयों और माता के साथ जाने के लिए तैयार हो गये। चलने के समय विदुर ने म्लेच्छ भाषा में वारणावत में उन लोगों के विरुद्ध जो रचना रची गयी थी वह बता दी। उन्होंने उस समय म्लेच्छ भाषा में अपना अभिप्राय कहा। यह बात युधिष्ठिर के अतिरिक्त और किसी ने नहीं समझी। पाण्डव हस्तिनापुर से बिदा हुए। उनके साथ और भी अनेक प्रजागन चले। प्रजाओं को पाण्डवों का वियोग बहुत बुरा मालूम पड़ने लगा। उनमें कइयों ने दुर्योधन धृतराष्ट्र आदि को बहुत बुरा भला भी कहा। इसके अतिरिक्त वे बिचारे और कह ही क्या सकते थे। पाण्डव वारणावत पहुँचे। पुरोचन ने उन लोगों के रहने के लिए पहले ही से लाक्षागृह बना रखा था। पाण्डव उसी में रहने लगे। युधिष्ठिर को सब बातें मालूम थीं, इस कारण वे भाइयों के साथ दिन भर अहेर खेलने में बिताते थे। उनका अभिप्राय वहां के रास्ते देखने का था। मौका पड़ने पर भटकना न पड़े। रात को उसी घर में रहते थे और सावधान रहते थे। विदुर का भेजा हुआ एक मनुष्य उन्हीं दिनों आकर युधिष्ठिर से मिला। युधिष्ठिर से चलने के समय विदुर ने जो बातें कही थीं वह उसने बतलायीं और उन्हीं का भेजा हुआ अपने को बतलाया। उस मनुष्य की सम्मति से एक सुरंग बनाया गया,

जिससे समय पर वहां से मनुष्य बाहर जा सके। पर सुरंग की बात इतनी गुप्त रखी गयी कि पुरोचन तक को मालूम न हो सका।

लाक्षागृह में रहने के समय पाण्डवों का नित्य नियम जारी था, वे नियमित ब्राह्मण भोजन कराते और अतिथियों का सत्कार करते। एक दिन कुन्ती ने ब्राह्मण भोजन कराया। उसी दिन सन्ध्या को एक भिल्लिन अपने पांच पुत्रों के साथ वहां भोजन के लिए आयी, उसे भोजन मिला भोजन के पश्चात् दुर्बलता के कारण वह वहां से जा न सकी और वहीं रह गयी। विदुर की आज्ञा के अनुसार पाण्डवों ने उसी दिन अपना निश्चित काम करना विचारा। पुरोचन गाढ़ी नींद में सो रहा था, भीम ने उस घर के द्वार पर आग लगा दी जिससे पुरोचन भाग न जाय, वह घर भक से जलने वाली चीजों का बना हुआ था, आग लगते ही चारों ओर से जलने लगा। पाण्डव माता कुन्ती को लेकर सुरंग के रास्ते गंगातीर पहुँचे वहां विदुर के भेजे कई मनुष्य थे। उन लोगों ने संकेत से अपना परिचय दिया और नाव से पाण्डवों को गंगा पार उतार दिया।

वारणावत के वासियों ने भी लाक्षागृह के जलने का वृत्तान्त सुना। वे दौड़े दौड़े वहां आये, उन लोगों ने पुरोचन को तथा पांच पुत्रों के साथ एक स्त्री को जली देखा, उन लोगों ने निश्चय किया कि अवश्य ही माता के साथ पाण्डव जल गये। यह खबर जब हस्तिनापुर पहुँची तब धृतराष्ट्र ने बहुत शोक किया, भीष्म भी बड़े

दुखी हुए, विदुर ने भी उन लोगों का साथ तो दिया, पर उनको यथार्थ में कुछ शोक न हुआ, क्योंकि उन्हें सब बातें अपने मनुष्यों से मालूम हो चुकी थीं। दुर्योधन के तो आनन्द का वार पार न रहा, उसने अपने को निष्कण्टक समझा।

गङ्गापार होकर युधिष्ठिर भाइयों के साथ आगे बढ़े बहुत दूर निकल जाने पर अधिक थक जाने के कारण तथा प्यास के कारण वे लोग बैठ गये। भीम पानी लेने गये, भीम जब पानी लेकर आये तब उन्होंने माता और भाइयों को सोते देखा, उनको जगाना उचित न समझकर वे पहरा देने लगे। उसी समय भीमने हिडिम्ब राक्षस को मारा। फिर माता और युधिष्ठिर की आज्ञा से हिडिम्बासे व्याह किया। हिडिम्बा के गर्भ से जब तक पुत्र उत्पन्न न हुआ तब तक भीम उसके साथ रहे। हिडिम्बा के गर्भ से भीमसेन का जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम घटोत्कच रखा गया। वह बड़ा बली था। उस वन में कुछ दिनों तक रहने के बाद वे एक नगर में गये और वहां एक ब्राह्मण के घर रहने लगे। उस नगर में बक राक्षस नामक एक राक्षस था वह वहां के वासियों को सदा पीड़ा दिया करता था। भीम ने उसे मारा। वहीं पाण्डवों को द्रौपदी के स्वयंवर का संवाद मिला। वहीं व्यासदेव जी आकर इनसे मिले। उनकी आज्ञा से युधिष्ठिर भाइयों और माता को साथ ले कर राजा द्रुपद की राजधानी में गये। रास्ते में कई ब्राह्मण इनके साथ हो गये थे। ये लोग भी ब्राह्मण के ही वेश में थे। स्वयंवर सभा में ये लोग गये और ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठे। जब सभी राजा लक्ष्य

बेध करके हार गये, तब अर्जुन ने लक्ष्य बेध किया और द्रौपदी पाण्डवों को मिली। राजा धृतराष्ट्र को यह संवाद विदुर ने सुनाया, इस संवाद से उसे भीतर ही भीतर हुआ तो बहुत कष्ट, पर उस भाव को छिपाकर उसने प्रसन्नता प्रकाशित की।

दुर्योधन जिस सङ्कट के टलने से प्रसन्न था, वह सङ्कट फिर उत्पन्न हुआ, जिनके जल मरने से वह प्रसन्न हो रहा था वे जीवित ही नहीं प्रकट हुए किन्तु एक बड़े राजा से उनका सम्बन्ध हुआ। दुर्योधन पाण्डवों को सताने का पुनः सांठ गांठ करने लगा। राजा धृतराष्ट्र को समझाने लगा, पर अब की वार धृतराष्ट्र ने उसकी बात न सुनी, क्योंकि उसकी बड़ी निन्दा हो चुकी थी, इससे वह बहुत दुखी था। अतएव उसने विदुर को पाण्डवों को ले आने के लिए द्रुपद की राजधानी में भेजा। विदुर जाकर युधिष्ठिर को उनके भाइयों के साथ हस्तिनापुर ले आये। धृतराष्ट्र ने उन्हें खाण्डव प्रस्थ में जाकर रहने के लिए कहा और आधा राज्य दे दिया।

युधिष्ठिर ने अपने वीर भाइयों की सहायता से खाण्डव प्रस्थ में इन्द्रप्रस्थ नामक नगर बसाया और वे वहीं रह कर धर्म पूर्वक प्रजा पालन करने लगे। राजा युधिष्ठिर के प्रेम और दयालुता से प्रजा का अनुराग उन पर बढ़ा, प्रजा उन्हें अपने पिता के समान मानने लगी। असुरों के शिल्पी मय दानव ने अर्जुन के उपकार के बदले में युधिष्ठिर के लिये एक सभा भवन बनाया। वह सभा भवन बड़ा ही उत्तम बना, उसकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गयी।

दूर दूर से ऋषि मुनि उसको देखने के लिये आने लगे, नारद भी अपने साथियों के साथ आये। नारद ने प्रश्न के रूप में युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश दिया। उस उपदेश से युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए। युधिष्ठिर के पूछने पर नारद ने इन्द्र यम ब्रह्मा आदि की सभाओं का वर्णन किया और उसी प्रसंग में उन्होंने पाण्डु का सन्देशा कहा कि उन्होंने राजा युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने के लिये कहा है। युधिष्ठिर ने अपने भाइयों से सम्मति पूछी, उन लोगों ने राजसूय यज्ञ करने की सम्मति दे दी। पुनः इस विषय में सम्मति पूछने के लिये उन्होंने श्रीकृष्ण को बुलाया। श्रीकृष्ण ने भी सम्मति दी पर उन्होंने कहा कि जरासन्ध जब तक जीवित है तब तक तुम्हारा यज्ञ निर्विघ्न पूरा नहीं हो सकता. अतएव सबसे पहले जरासन्ध को मारने का प्रयत्न करना चाहिये। युधिष्ठिर की आज्ञा से भीम और अर्जुन को लेकर श्रीकृष्ण जरासन्ध के नगर में गये और उसे भीम के द्वारा मरवा डाला। वहां से लौटने पर भीम अर्जुन, नकुल और सहदेव चारो भाई चारो दिशाओं में दिग्विजय करने के लिए गये। वे चारो दिशाओं को जीत कर तथा असंख्य धन लेकर लौट आये। यज्ञ की तैयारी होने लगी।

यज्ञ आरम्भ होने के पहले ही से श्रीकृष्ण वहां उपस्थिति थे। उन्हीं की सम्मति से यज्ञ की तैयारी हो रही थी। सभी अपने अपने काम में लगे हुए थे। देश देशान्तरों में निमन्त्रण पत्र भेजे जा रहे थे। राजाओं ऋषियों मुनियों आचार्यों और पुरोहितों को निमन्त्रण

पत्र भेजे गये। उत्तम विशाल यज्ञ मण्डप बनवाया गया। अतिथियों के सत्कार का उत्तम प्रबन्ध किया गया।

पाण्डवों के बड़े तथा आत्मीय हस्तिनापुर में रहते थे। युधिष्ठिर की आज्ञा से नकुल वहां गये। उन्होंने भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, विदुर, धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन आदि को निमन्त्रण देकर चलने की प्रार्थना की। राजा युधिष्ठिर का निमन्त्रण उन लोगों ने स्वीकार किया, और नकुल के साथ वे इन्द्रप्रस्थ आये। अन्य निमन्त्रित राजा भी आये जिनकी संख्या नहीं बतलायी जा सकती। उन सब लोगों के रहने भोजन आदि का उचित प्रबन्ध किया गया। सब लोग अपने घर के समान सुखी और सन्तुष्ट थे।

जो सगे सम्बन्धी युधिष्ठिर के निमन्त्रण में आये थे उनसे राजा युधिष्ठिर ने विनय पूर्वक अपने कार्य में सहायता देने की प्रार्थना की, उन लोगों ने भी बड़े आदर और उत्साह के साथ राजा की प्रार्थना स्वीकार की। ब्राह्मणों के स्वागत का भार अश्वत्थामा ने लिया, राजाओं के सत्कार करने का काम भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के जिम्मे किया गया। भेंट में आये धन आदि को रखने तथा हिसाब किताब रखने का काम कृपाचार्य को सौंपा गया। स्वयं अपनी इच्छा से कृष्णचन्द्र ने ब्राह्मणों के पैर धोने का काम लिया।

यज्ञ प्रारम्भ हुआ और ऋत्विजों आदि की योग्यता से वह निर्विघ्न समाप्त प्राय हुआ। सब का उचित सम्मान किया गया, ब्राह्मणों को दक्षिणा दी गयी, महाराज युधिष्ठिर की नम्रता

और उदारता से सभी प्रसन्न हुए। राजा दुर्योधन के जिम्मे दक्षिणा बांटने का काम था, वे युधिष्ठिर को नीचा दिखाने के लिए खुले हाथ दक्षिणा बांटते थे, यह भी युधिष्ठिर के लिए अच्छा हुआ। इससे भी उनका गौरव बढ़ा। इस प्रकार तीन वर्ष तक यज्ञ का काम होता रहा। जब यज्ञ समाप्त हुआ तब सर्व श्रेष्ठ की पूजा की बारी आयी। विकट प्रश्न था। अनेक बड़े बड़े राजा महाराजा ऋषि मुनि आये थे, कौन सबसे बड़ा है इस बात का निश्चय करना कठिन था, विचार होने लगा कि किस की पूजा की जाय। भीष्म पितामह से इस समस्या को हल करने के लिए कहा गया, उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्र को ही सब से श्रेष्ठ बतलाया, और उनकी आज्ञा से युधिष्ठिर ने भी उन्हीं की पूजा की। यह बात चेदिराज शिशुपाल को बहुत बुरी लगी, वह आपे से बाहर हो गया और युधिष्ठिर भीष्म तथा श्रीकृष्ण को लगा ऊंचा नीचा सुनाने। राजा युधिष्ठिर शान्त स्वभाव के थे उन्होंने शिशुपाल को क्षमा किया, भीष्म पितामह ने उसे समझाने का प्रयत्न किया, पर वह निष्फल हुआ। श्रीकृष्ण भी चुप थे, क्योंकि उसके सौ अपराधों को क्षमा करने की वे प्रतिज्ञा कर चुके थे। वह श्रीकृष्ण की बुआ का लड़का था, श्रीकृष्ण ने अपनी बूआ से उसके सौ अपराधों को क्षमा करने की प्रतिज्ञा की थी, पर शिशुपाल अपने समान किसी को वीर नहीं समझता था, अथवा उसके सिर पर काल नाचता था, वह अपराध पर अपराध करता गया, उसने गालियों की झड़ी लगा दी। श्रीकृष्ण मौक़ा देख रहे थे। शिशुपाल के अपराधों की संख्या पूरी

हुई और श्रीकृष्ण ने अपने सुदर्शन चक्र से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। सब लोग देखते ही रह गये, जो राजा शिशुपाल के साथ उछल कूद मचा रहे थे वे भी भयभीत हो गए, वे दुम दबाकर भाग गये। राजा युधिष्ठिर का यज्ञ समाप्त हुआ, निमन्त्रित व्यक्तियों की सम्मान के साथ विदाई हुई, सभी ने महाराज युधिष्ठिर को धन्यवाद दिया।

खाण्डवप्रस्थ से सब लोग विदा हो गये, पर राजा दुर्योधन नहीं गये। वे और उनके साथी युधिष्ठिर के सभाभवन देखने के लिए रह गये। युधिष्ठिर का सभाभवन अनुपम था, दुर्योधन पहले पहल वह देख रहा था। उस सभाभवन की बनावट उसकी गढ़न आदि देख कर राजा दुर्योधन मन ही मन कुढ़ने लगे और शकुनि उसकी कुढ़न बढ़ाने लगा। राजा दुर्योधन घूम घूम कर सभाभवन देखने लगा, स्फटिक की फ़र्श पर जाने पर उसे जल का भ्रम हुआ, वह मोज़े उतारने लगा, कपड़े समेटने लगा, देखने वालों ने हँस दिया। वह आगे बढ़ा, सामने जल आया, उसने समझा कि यह स्फटिक की फ़र्श है। आगे बढ़ा, भीग गया, लजा कर इधर उधर देखने लगा, सामने द्रौपदी बैठी थीं, उन्होंने हँस दिया। महाराज युधिष्ठिर ने द्रौपदी को डांटा, नये कपड़े मंगवाये गये, दुर्योधन ने कपड़े बदले। इस प्रकार उसे कई बार नीचा देखना पड़ा, फिर भी उसकी तृप्ति नहीं हुई, वह सभाभवन देखने के लिए आगे बढ़ा। एक स्थानपर दीवाल को ही उसने द्वार समझा, घुसने लगा, सिर में टक्कर लगा, वह माथा थाम कर बैठ गया।

भीम और दुर्योधन का व्यवहार बाल्यावस्था से ही अच्छा न था, दोनों उद्धत दोनों अहङ्कारी तथा बलवान्। दोनों में होड़, मौक़ा पाते ही एक दूसरे को नीचा दिखाने को तैयार। बार बार दुर्योधन की असावधानी देखकर भीम से रहा न गया, उन्होंने कहा—"अन्धे के अन्धे ही होते हैं"। दुर्योधन के समान अहङ्कारी मनुष्य इतना अपमान कैसे सह सकता है। वह कुचले हुए सांप के समान क्रोध से विह्वल हो गया, पर मौका नहीं था, चुप हो रहा, कुछ बोला तक नहीं। महाराज युधिष्ठिर से आज्ञा ले कर घर गया और द्रौपदी तथा भीम के अपमान की स्मृति साथ लेता गया।

दुर्योधन पक्का अहङ्कारी था, वह अपमान नहीं सह सकता था, उसपर भी पाण्डवों के वैभव, उनके अनुपम सभाभवन आदि की बातें स्मरण करके उसका कलेजा और भी जलता था, हस्तिनापुर में पहुँचते ही उसने अपने सलाहकार शकुनि, कर्ण आदि को बुलाया। पाण्डवों को किस प्रकार नीचा दिखाया जाय, किस प्रकार उनकी शान धूल में मिलायी जाय, यह सोचा जाने लगा। बहुत सोच विचार वादविवाद के अन्त में जूआ खेलने की बात पक्की ठहरी, जूए से ही पाण्डवों को नीचा दिखाने का उपाय स्थिर हुआ। राजा दुर्योधन अपने विचार के अनुसार कार्य करने की आज्ञा लेने के लिए पिता के पास पहुँचा। धृतराष्ट्र ने पुत्र की बातें सुन कर कहा—यह काम अच्छा नहीं, द्रुपद धृष्टद्युम्न श्रीकृष्ण आदि उनके साथी हैं सहायक हैं, और इन लोगों का सामना करना कठिन है, हम लोगों का पक्ष भी धर्मानुकूल नहीं है, अतएव अपने पक्षवालों

से भी सहायता मिलने की आशा नहीं। राजा धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को रोकने के अनेक प्रयत्न किये, सद्भाव से प्रेरित होकर नहीं किन्तु भय से। वे अब पाण्डवों से प्रेम नहीं करते थे, फिर भी वे उनका पक्ष कभी कभी लेते थे, सो लोक लज्जा से तथा भय से। राजा धृतराष्ट्र का प्रेम था अपने पुत्र दुर्योधन से, वे दुर्योधन का कल्याण चाहते थे अतएव दुर्योधन जब बुरे रास्ते पर पैर रखना चाहता था तब राजा धृतराष्ट्र उसे रोकते थे, उसे समझाते बुझाते थे। इस समय भी धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को बहुत कुछ ऊंच नीच समझाया, पाण्डवों का बल बताया, श्रीकृष्ण की नीतिमत्ता का स्मरण कराया, पर दुर्योधन पर राजा की इन बातों का कोई असर नहीं हुआ, वह अपने निश्चय पर डटा रहा। उसकी दृढ़ता देखकर राजा ही हारे और उन्होंने जूआ खेलने की आज्ञा दे दी।

एक महोत्सव के बहाने धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को हस्तिनापुर बुला भेजा, आने पर दुर्योधन ने जूआ खेलने के लिए कहा। युधिष्ठिर की आन्तरिक इच्छा जूआ खेलने की न थी। किन्तु क्षत्रियोचित धर्म सोच वे खेलने को प्रस्तुत हुए। शकुनी ने कपट से युधिष्ठिर का सर्वस्व हरण कर लिया। एक एक करके धन, रत्न, हाथी, घोड़ा, राज्य आदि सब दाव पर रख कर युधिष्ठिर हार गये। अन्त में शकुनी के प्रचारने से चारों भाइयों को भी वे हार गये। पीछे से स्वयं भी दाव पर लग गये। शकुनी ने उन्हें भी जीत लिया। द्रौपदी को भी दाव पर रखने के लिए वे लोग कहने लगे। भावीवश युधिष्ठिर द्रौपदी को भी हार गये। तब दुर्योधन ने दुःशासन

से द्रौपदी को ले आने के लिए कहा। दु:शासन अन्त:पुर में द्रौपदी को ले आने को गया। उस समय द्रौपदी ऋतुस्नाता हो सखियों के साथ बैठी थी। दु:शासन ने जाकर उन्हें सभा का वृत्तान्त सुनाया, और चलने के लिए कहा। द्रौपदी ने कहा—मैं एक वस्त्रा हूं, अतएव सभा में नहीं जा सकती। किन्तु दुष्ट दु:शासन ने उनकी बातों पर कुछ ध्यान नहीं दिया। उनका केश पकड़ कर खींचता हुआ सभा में ले आया। यह देख भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, विदुर आदि ने अपना सिर नीचा कर लिया। किन्तु कौरव गण बहुत ही प्रसन्न हुए। कर्ण ने द्रौपदी से कहा—"हे सुन्दरी, तुम दुर्योधन की गोद में आकर बैठो। कापुरुष पाण्डवों की आशा त्याग कर राज सुख को भोगो।"

यह सुनते ही भीम के नेत्र लाल हो गये, क्रोध से वे थर थर कांपने लगे। अपनी गदा पर उन्होंने हाथ रखा। यह देख धर्मभीरु युधिष्ठिर ने अत्यन्त आग्रह से भीम के क्रोध को शान्त किया। पाण्डवों को जलाने के लिए दुर्योधन ने कहा—दु:शासन यह स्वैरिणी है, तुम शीघ्र ही इसे नग्न कर मेरी गोद में बैठा दो। दु:शासन द्रौपदी के वस्त्र को खींचने लगा। द्रौपदी ने अत्यन्त कातर दृष्टि से अपने पतियों की ओर देखा। किन्तु वे सब धर्म बद्ध थे। उन्होंने अपने सिर नीचे कर लिये। द्रौपदी ने अपने सतीत्व बल से श्रीकृष्ण का स्मरण किया। उसका वस्त्र बढ़ने लगा। दु:शासन खींचते खींचते थक गया, पर वह नग्न न हुई। राजबधू का इस प्रकार अपमान होता देख, राजमाता गांधारी सभा में आयीं। दुर्यो-

धन आदि को बहुत धिक्कारा। दुःशासन के हाथ से द्रौपदी को मुक्त कराया। फिर धृतराष्ट्र से कहा—आप शीघ्र ही द्रौपदी को प्रसन्न कीजिए नहीं तो कौरव वंश का नाश हो जायगा। धृतराष्ट्र ने द्रौपदी को बहुत कुछ सान्त्वना दी। उससे बर मांगने को कहा। द्रौपदी ने अपने पतियों को मुक्त कराया। क्षमाशील युधिष्ठिर अपने भाइयों के और द्रौपदी के साथ इन्द्रप्रस्थ जाने की तैयारी करने लगे।

उन्हें ऐसा छूट कर जाते देख दुर्योधन आग बबूला हो गया। उसने किसी तरह फिर युधिष्ठिर को जुआ खेलने में फँसा लिया, अब की तेरह वर्ष बनवास की बाजी लगा कर खेल शुरू हुआ। युधिष्ठिर हार गये। राजपाट त्याग कर द्रौपदी के साथ बनवास को पाण्डव चल दिये। बनवास की शर्त यह थी—"बारह वर्ष प्रगटवास और १ वर्ष गुप्त वास रहे यदि गुप्त वास में पता लग जाय तो फिर तेरह वर्ष इसी प्रकार बनवास दिया गया।" युधिष्ठिर माता कुन्ती को विदुर के घर छोड़ कर और भाइयों के साथ द्रौपदी को ले कर बन को चल दिये।

युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ बन को जब चले तब उनके पुरोहित धौम्य ऋषि और अन्य ब्राह्मण गण भी साथ हो लिये। युधिष्ठिर ने सब को लौटाने के अनेक उपाय किये, किन्तु कोई भी न लौटा। मार्ग में व्यास जी मिले। उन्होंने युधिष्ठिर को बहुत उपदेश देकर धैर्य दिया।

कुछ दिन तक युधिष्ठिर द्वैत बन में रहे। वहां से काम्य बन में चले आये। युधिष्ठिर अपने समस्त समुदाय को प्रतिदिन कंदमूल

फल देकर तृप्त करते थे। प्रतिदिन नये नये ऋषि मुनि उनके निकट आने लगे। ब्राह्मण आदि उनके पास आ कर फिर जाने की इच्छा नहीं करते थे। अधिक मनुष्य हो जाने से, उनके निर्वाह की कठिनता पड़ने लगी। धौम्य ऋषि की आज्ञा से युधिष्ठिर ने सूर्य की आराधना की। सूर्य ने प्रसन्न हो कर उन्हें एक अक्षय पात्र दिया और कहा कि जब तक द्रौपदी स्वयं भोजन न कर लेगी तब तक सहस्रों मनुष्यों को इस पात्र में से षटरस भोजन मिलेगा। फिर क्या था? उस पात्र के द्वारा सबों को षटरस व्यंजन मिलने लगे। इस पात्र के मिलने से युधिष्ठिर को बड़ी प्रसन्नता हुई। आनन्द से सब का जीवन निर्वाह होने लगा।

एक समय दुर्योधन के कहने से महर्षि दुर्वासा पाण्डवों को शाप देने आये। परन्तु श्रीकृष्ण की कृपा से और उस अक्षय पात्र के प्रताप से उन्हें ऐसा अवसर न मिला। उलटा दुर्योधन को ही उन्होंने शाप दिया। जो दूसरों के लिए गड़ा खोदता है वह स्वयं गड्ढे में गिरता है।

एक समय उनके आश्रम में किर्मीर राक्षस आया। उसे भीम ने मार डाला। इन्द्रकील नामक पर्वत पर अर्जुन ने घोर तप कर शिव और इन्द्र को प्रसन्न किया। उनसे नाना प्रकार के दिव्य अस्त्र शस्त्र लिये। कुछ दिन वहां रह कर युधिष्ठिर अपने समुदाय के साथ द्वैत बन में आये। वहां पर लोमस ऋषि भी आये। उन्होंने युधिष्ठिर को वनवास दुःख परिहारार्थ नलाख्यान सुनाया। पीछे युधिष्ठिर को वृहदश्व ऋषि ने अनेक इतिहास सुनाये, और

फिर इन्हें अक्ष विद्या की शिक्षा दी। इस विद्या का उपयोग इस प्रकार से है कि द्यूत का प्रसंग जब कभी पड़े तो अनुकूल अक्ष (पासा) पड़े। पुलस्त्य ऋषि ने अनेक तीर्थों का वर्णन किया और माहात्म्य भी बताया। युधिष्ठिर की तीर्थाटन की इच्छा देख कर लोमश ऋषि ने उन्हें समस्त तीर्थ कराये। उस यात्रा में युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डवों ने इल्वल और वृत्रासुर का बध किया। अगस्त्याश्रम, ऋष्यश्रृंग, जमदग्नि, परशुराम, महत्व, श्येनक अष्टावक्र और यवकित आदि के दर्शन किये और उनके माहात्म्य सुने। महेन्द्राचल, कैलाश, गंधमादन आदि महान पर्वतों पर घूमते हुए वद्रिकाश्रम में आये। वहां भीम ने जटासुर को मारा। वहां से लौट कर गंधमादन पर आये। वहां कुबेर के सेना-पति मणिमाल को भीम ने युद्ध कर मार डाला। राजा नहुप अग-स्त्य के शाप से अजगर होकर पड़े थे। उन्होंने भीम को पकड़ लिया। तब युधिष्ठिर ने जा कर उनके प्रश्नों का यथोचित उत्तर दिया। जिससे नहुप ने शाप से मुक्त हो दिव्य रूप धारण किया।

युधिष्ठिर भीम के बच जाने से बड़े ही प्रसन्न हुए। इसके बाद मार्कण्डेय मुनि से युधिष्ठिर की भेंट हुई। उन्होंने युधिष्ठिर को मत्स्योपाख्यान, मंडूकोपाख्यान, नहुष, शिवि, इन्द्र, धुँधमार, स्कन्दोत्पत्ति, केशी पराभव, महिषासुर बध इत्यादि का आख्यान सुनाया। इसके बाद जयद्रथ ने जब अपराध किया तो क्षमाशील युधिष्ठिर ने उसे दण्ड दिया। इसके उपरान्त सब ऋषि लोग अपने अपने आश्रम को चले गये।

युधिष्ठिर के बनवास के समय एक दिन ऐसा हुआ कि किसी ब्राह्मण की अरणी कोई चुराकर ले गया। वह ब्राह्मण युधिष्ठिर के पास आया। उसने अपनी अरणी को ला देने के लिये उनसे कहा। युधिष्ठिर ने ब्राह्मण का यथोचित सत्कार किया। पीछे भीम को ब्राह्मण की अरणी ला देने की आज्ञा दी। भीम अरणी के लाने को चले। चारो तरफ़ अनुसंधान करते हुए उन्हें बड़ी प्यास लगी। तृषा से अत्यन्त व्याकुल होने पर वे जल ढूंढने लगे। बहुत ढूंढने पर उन्हें एक जल से भरा सरोवर दिखाई पड़ा। भीम प्यास से व्याकुल थे। शीघ्र ही सरोवर पर जा हाथ मुंह धो जैसे ही जल पीने के लिए उद्यत हुए कि एक यक्ष ने कहा—अरे तू कौन है? मेरे प्रश्नों के उत्तर दिये बिना जल न पीना। यदि बिना उत्तर के जल पीयेगा तो तेरी मृत्यु हो जायगी। भीम उस समय अत्यन्त तृषित थे, उन्हें बोलने तक का ताब न था। उन्होंने बिना उत्तर दिये ही जल पी लिया। जल पीते ही निश्चेष्ट हो भूमि में गिर पड़े।

भीम के आने में विलम्ब देख युधिष्ठिर ने अर्जुन नकुल सहदेव आदि को भी क्रमशः भेजा। उन लोगों का भी वही हाल हुआ, जो भीम का हुआ था। जब चारो भाई गये और लौटे नहीं तब उनकी खोज में स्वयं युधिष्ठिर चले। वे सरोवर पर गये तो वहां चारो भाइयों को उन्होंने मरा देखा। भाइयों की दशा देख युधिष्ठिर को बड़ी ही चिंता हुई। इन लोगों को क्या हो गया? जल प्राशन करने का उन्होंने विचार किया, जैसे ही जल स्पर्श किया

वैसे ही उस यक्ष ने उनसे भी वही कहा जो भीम आदि से कहा था।

यह सुन कर धैर्य्यवान युधिष्ठिर ने कहा—पूछो तुम्हारा क्या प्रश्न है? मैं यथोचित तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दूंगा। यक्ष ने जितने प्रश्न किये सब का यथार्थ उत्तर युधिष्ठिर ने दिया। जिससे यक्ष उनपर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। फिर उस यक्ष ने अपना असली रूप प्रकट किया, और कहा-वत्स, युधिष्ठिर! मैं धर्मराज हूँ। ये तुम्हारे चारो भाई ब्राह्मण की अरणी खोजने आ कर इस अवस्था को प्राप्त हुए हैं। अब तुम कहो, इन चारो में से मैं किसे जीवित कर दूँ? यह सुन भ्रातृ वत्सल युधिष्ठिर को अत्यन्त दुःख हुआ। परन्तु अपना धैर्य्य रख निर्लोभता से न्याय अनुसार कहा—भगवन् मेरे पिता की दो स्त्रियां थीं कुन्ती और माद्री। कुन्ती का ज्येष्ठ पुत्र मैं विद्यमान हूं। किन्तु माद्री के पुत्र ये मरे पड़े हैं, इसलिये आप नकुल को जीवित कर दें। धर्मराज ने नीतिवान युधिष्ठिर के निर्मल अन्तःकरण की यथोचित परीक्षा की। युधिष्ठिर के अन्तःकरण को शुद्ध पाया। उनकी शुद्धता देख धर्मराज अत्यन्त प्रसन्न हुए। उनके चारो भाइयों को उन्होंने जीवित कर दिया और ब्राह्मण की अरणी देकर अन्तर्धान हो गये। युधिष्ठिर प्रसन्नता पूर्वक चारो भाइयों के साथ आश्रम में आये और ब्राह्मण को उसकी अरणी दी।

इसी प्रकार युधिष्ठिर ने बन में बारह वर्ष व्यतीत किये। अब तेरहवां वर्ष लगा। इसमें छिपकर रहना पड़ेगा। धौम्य ऋषि की आज्ञा से पाण्डव लोग मत्स्य देश के राजा विराट के नगर में गये।

पहिले श्मशान में अपने अपने अस्त्रों को एक शमी वृक्ष पर उन लोगों ने छिपा दिया। पीछे अपना वेष बदल कर वे नगर में घुसे। युधिष्ठिर ब्राह्मण का वेष बना कर विराट की सभा में गये। आशिर्वाद देकर वे बोले—मैं युधिष्ठिर की सभा में रहता था, वे लोग बनवास चले गये, निराश्रय हो कर मैं यहां आया हूं। मैं अक्ष विद्या में कुशल हूं। मेरा नाम कंक है। विराट ने उन्हें राजसभा का सभासद बना अपने पास रख लिया।

इसी तरह अर्जुन भीम नकुल सहदेव और द्रौपदी आदि ने भिन्न भिन्न वेष से नगर में प्रवेश किया। उन लोगों ने राजा विराट के यहां अपनी अपनी रुचि के अनुसार नौकरी कर ली। वहां पर कितने ही अलौकिक कार्य इन लोगों ने किये, जिन्हें कोई भी नहीं कर सका था। इसलिए सब लोगों ने यह समझा कि—यह कोई अपूर्व मनुष्य हैं। अपने प्रतिज्ञानुसार एक वर्ष तक सब छिपे रहे। जब वर्ष व्यतीत हो गया, तब प्रकट हो गये। पीछे युधिष्ठिर अपने पुरोहित को अपना हिस्सा आधा राज्य मांगने को हस्तिनापुर भेजा। पुरोहित लौट आये। पीछे धृतराष्ट्र ने अन्याय रूप से संजय के द्वारा यह कहला भेजा कि—"युधिष्ठिर तुम धर्मनिष्ट हो, इसलिये युद्ध को प्रवृत्त न होना। दुर्योधन ने तुम्हें राज्य भाग नहीं दिया है, अब तुम भिक्षा के ऊपर ही अपनी जीविका करो। किन्तु युद्ध करके अपने तेरह वर्ष किये तप को और अपनी कीर्ति को नष्ट न करो। यह शरीर क्षण भंगुर है। मेरी समझ से, बेटा, तुम अब तपस्या ही करके अपनी आयु अक्षय भोग के लिए व्यतीत करो।"

धृतराष्ट्र के ऐसे स्वार्थ भरे उपदेश सुन कर युधिष्ठिर आदि सब लोगों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वहां संजय के साथ धर्मा-धर्म पर युधिष्ठिर ने अनेक बात चीत की।

श्रीकृष्ण ने कहा—संजय, कौरवों ने पाण्डवों का बहुत ही अपराध किया है। इसलिए उनका नाश होना ज़रूरी है। आज पर्यन्त पाण्डवों ने बहुत ही क्षमा रखी है। किन्तु अब बिना युद्ध के नहीं समझेंगे। मेरी समझ से युद्ध करना ही आवश्यक है। यह सुन क्षमाशील युधिष्ठिर ने कहा—संजय, हम लोगों का आधा राज्य था, पर अब हमें वे पांच गांव ही दे दें तो हम प्रसन्न हैं। व्यर्थ कुल का नाश क्यों हो? इस प्रकार समझा बुझा कर उन्हें विदा किया।

पीछेसे श्रीकृष्ण को भी युधिष्ठिर ने भेजा। श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र को हर प्रकार से समझाया बुझाया। किन्तु उसका परिणाम युद्ध ही पर रख कर वे भी लौट आये। अन्त में बहुत कहने सुनने पर युधिष्ठिर ने युद्ध की तैयारी आरम्भ की। दुर्योधन जब अपनी सेना लेकर कुरुक्षेत्र में आया, तब युधिष्ठिर भी अपने भाइयों के साथ सेना लेकर युद्धक्षेत्र में आ डटे।

युधिष्ठिर ने अपने हाथ में माहेन्द्र नामक धनुष धारण किया था। युद्ध में बजाने के लिए अनन्त-विजय शंख लिया था। अच्छे वेगवान घोड़ों को जोतकर सुन्दर रथ में बैठे। उनके रथ की ध्वजा में सुवर्ण का चन्द्र था। जिस समय युद्ध होने का समय आया, उस समय युधिष्ठिर अश्वपर चढ़ दोनों दलोंके मध्यमें गये। पहले

शंखनाद कर सब को उन्होंने सावधान किया, और ज़ोर से गर्जन कर वे बोले—"कौरवों की सेना में जिस योद्धा की इच्छा मेरे साथ रहने की हो, वह मेरी ओर प्रसन्नता से आवे। मैं उसे सहर्ष अंगीकार करूंगा।" यह सुन धृतराष्ट्र का दासी पुत्र युयुत्सु युधिष्ठिर के दल में आ मिला। पीछे वे भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि के निकट गये। उन्हें प्रणाम कर युद्ध करने की अनुमति उन्होंने मांगी। युधिष्ठिर की पितृ भक्ति देख भीष्म अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—जाओ पुत्र! युद्ध करो, तुम्हारा कल्याण होगा। इसी प्रकार द्रोण और कृपाचार्य से आशिर्वाद पा, युधिष्ठिर अपनी सेना में लौट आये। अपनी सेना का सेनापति धृष्टद्युम्न को बनाया और बड़े उत्साह के साथ युद्धक्षेत्र में आगे बढ़े।

उधर कौरवों ने भीष्म पितामह को सेनापति बना युद्ध आरम्भ किया। धर्म पूर्वक दस दिन तक भीष्म ने युद्ध किया। पीछे घावों से व्याकुल हो शर शय्यापर गिर पड़े। उसके बाद द्रोणाचार्य सेनापति बने, पांच दिन तक उन्होंने घोर युद्ध किया। द्रोणाचार्य के समय में, अर्जुन की अनुपस्थिति में अभिमन्यु ने घोर युद्ध कर, अपने अतुलित पराक्रम से समस्त कौरव सैन्य को विचलित कर दिया। कौरव घबड़ा गये। अन्याय से सात महारथियों ने मिल कर उस बालवीर को मारा। जिस समय युधिष्ठिर ने यह समाचार पाया उस समय वे अत्यन्त दुःखी हुए। बोले हा! जब मेरा ऐसा वीर वंशधर ही मारा गया तो मैं अब राज्य किसके लिए लूँ?

व्यास जी ने आकर पाण्डवों को अनेक इतिहास सुनाये, उन्हें हर प्रकार से उत्साहित कर उनके दुःख को दूर किया। पुनः युद्ध प्रारम्भ हुआ। युधिष्ठिर बड़े कोमल हृदय के थे। युद्ध में कभी उन्होंने आगे बढ़कर युद्ध नहीं किया। समय कुसमय अस्त्र पकड़ कर वे अपनी सेना की रक्षा ज़रूर कर लेते थे। द्रोणाचार्य की मृत्यु युद्ध में नहीं हो सकती थी। उन्हें पिता का बरदान था कि जब तुम्हें अपार शोक होगा तब ही तुम्हारी मृत्यु होगी। श्रीकृष्ण यह जानते थे। उसी समय भीम ने अश्वत्थामा नाम का एक हाथी मारा। इस मौक़े को देख श्रीकृष्ण ने द्रोण से कहा अश्वत्थामा भी मारा गया। द्रोणाचार्य ने युद्ध बन्द कर दिया, किन्तु श्रीकृष्ण की बात पर द्रोण ने विश्वास न किया। युधिष्ठिर सत्यवादी हैं उनसे चलकर पूछूँ—यह सोच वे युधिष्ठिर के पास आये और उन्होंने पूछा—युधिष्ठिर ! क्या सचमुच अश्वत्थामा मारा गया ? युधिष्ठिर पहले कुछ हिचकिचाये, परन्तु श्रीकृष्ण के बहुत कहनेपर उन्होंने कहा-"अश्वत्थामा हतो नरो वा कुँजरो वा"। युधिष्ठिर के मुख से केवल इतना ही निकला था कि "अश्वत्थामा हतो नरो" वैसे ही श्रीकृष्ण ने अपना शंख ज़ोर से बजा दिया। जिससे "कुँजरो वा" का शब्द शंख नाद के कारण द्रोण नहीं सुन सके। पुत्र शोक में द्रोण ने अपने शस्त्र त्याग दिये। प्राण चढ़ा पद्मासन मार वे बैठ गये, धृष्टद्युम्न ने उनका शिर काट लिया।

द्रोणाचार्य की मृत्यु के बाद कर्ण सेनापति हुए। कर्ण ने घोर युद्ध कर पाण्डवों की सेना को विचलित कर डाला। कर्ण ने

युधिष्ठिर को बहुत कष्ट दिया, इसलिए अर्जुन ने उसके मारने की प्रतिज्ञा की। कर्ण साधारण वीर न था। अर्जुन के अतिरिक्त और कोई भी उसके सामने युद्ध में नहीं ठहर सकता था। परन्तु युद्ध में अर्जुन का और कर्ण का सामना श्रीकृष्ण नहीं होने देते थे। कर्ण ने सब सैन्य को विचलित कर युधिष्ठिर को घेर लिया। मारे बाणों के व्याकुल कर दिया। उन्हें व्याकुल देख भीम ने युद्ध करना शुरू किया। इतने में अर्जुन आ गये। उन्हें देख युधिष्ठिर ने कहा—गुडाकेश! तुमने अभी तक कर्ण का वध नहीं किया। वृथा गांडीव धारण कर रहे हो। जो कर्ण को नहीं मार सकते तो गांडीव किसी दूसरे को दे दो अथवा फेंक ही दो। आज तक युधिष्ठिर ने अर्जुन को कभी कड़े शब्द नहीं कहे थे। आज कर्ण के उत्पीडन से वे अत्यन्त दुःखित हुए थे इसीसे उनके मुख से ऐसे शब्द निकले, "गाण्डीव दे दो", इस वाक्य से अर्जुन को इतना क्रोध आ गया कि कमर से तलवार ही तो निकाल ली और युधिष्ठिर की ओर झपटे। परन्तु श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पकड़ लिया और बहुत समझाया बुझाया। इस समय श्रीकृष्ण ने बालक व्याध और कौशिक ब्राह्मण की कथा कह कर अर्जुन को शान्त किया। अर्जुन की यह प्रतिज्ञा थी कि जो कोई गाण्डीव की निन्दा करेगा उसका मैं शिरच्छेदन करूंगा। इसलिये अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिये श्रीकृष्ण ने कहा—तुम युधिष्ठिर पर कटु शब्द रूपी बाणों की वर्षा करो, इससे युधिष्ठिर मृतप्राय हो जायँगे। अर्जुन ने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की पर अपने अना-

चार से वे दुःखी भी हुए। युधिष्ठिर से आशिर्वाद लेकर अर्जुन ने कर्ण से युद्ध किया और उसे मारा। कर्ण-वध सुन युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए।

कर्ण के बाद दुर्योधन ने शल्य को अपना सेनापति बनाया। यह अट्ठारहवें दिन का युद्ध था। कौरवों की सेना के अनेक नामी नामी योद्धा मारे गये थे। दुर्योधन ने घोर युद्ध करने की आज्ञा दी। घोर युद्ध आरम्भ हुआ। युधिष्ठिर ने शल्य को मारा। पाण्डव दल ने कौरव दल का संहार किया। जब समस्त सेना मारी गयी, तब दुर्योधन अपनी गदा लेकर एक सरोवर में जा छिपा।

इधर पाण्डव युद्ध में दुर्योधन को खोजते थे। पता लगाते हुए उस सरोवर पर जा पहुँचे। युधिष्ठिर ने कहा—दुर्योधन! "तू इतने बड़े बड़े वीरों का संहार करा के अब पानी में क्यों छिपा है? यह तेरे लिए बड़ी लज्जा की बात है। तू क्षत्रिय है, हम तुझे युद्ध को बुलाते हैं तो लड़ता क्यों नहीं? तेरे ऐसे वीरों को छिपना शोभा नहीं देता। जल से बाहर आकर युद्ध कर। पीछे जय पराजय ईश्वर की इच्छा पर है। क्षत्रिय होकर पानी में छिप रहना और युद्धार्थी को युद्ध न देना, बड़ा अधर्म है।"

दुर्योधन ने उत्तर दिया—मेरे सगे भाई, मित्र तथा कुटुम्बी गण सब ही मारे गये। अब मैं राज्य लेकर क्या करूंगा? तुम सुख से राज्य करो। यदि मैं इच्छा करूं तो तुम्हें जीत सकता हूं। किन्तु अब भीष्म, द्रोण, कर्ण कोई भी नहीं है, अब मैं युद्ध न

करूँगा। मुझे तुम छोड़ दो। अब मै अपने भाग्य की परीक्षा करूँगा। वल्कल वस्त्र धारण कर तपस्या करूँगा।

यह सुन युधिष्ठिर ने कहा—इस समय दया उपजाने की बात छोड़ दो अपने पहिले के वचनों को याद करो। पीछे भीम ने कहा "झूठे! बाहर निकल, नहीं तो जल से खींच कर तुझे बाहर निकाल लाऊंगा।" भीम की गर्जना सुन दुर्योधन अपनी गदा लेकर बाहर निकल आया। युधिष्ठिर ने पूछा—हम पाँचों में से जिसके साथ तुम्हारी इच्छा हो उसके साथ युद्ध करो। दुर्योधन ने भीम के साथ युद्ध करना चाहा। सब लोग कुरुक्षेत्र में आये। भीम ने कहा—दुर्योधन! तुम ने जो हम लोगों को दुःख दिये हैं, आज उनका दण्ड मैं तुम्हें अच्छी तरह दूंगा। यह कह दोनों गदा युद्ध करने लगे। अन्त में भीम की गदा के आघात से दुर्योधन धराशायी हो गया। उस समय युधिष्ठिर पास गये और उसे धैर्य्य देने लगे। दुर्योधन ने कहा—भाई! मैंने यथोचित रूप से राज्य भोग किया है। सर्वदा मैं न्याय पर दृढ़ रहा। मैं ईश्वर से यही मांगता हूं कि मेरे कर्मानुसार ही फल वे दें। दुर्योधन के मुख से यह निकलते ही देवताओं ने उस पर फूल बरसाये। श्रीकृष्ण ने प्रसन्नता से शंखनाद कर कहा—"महाराज युधिष्ठिर की जय हो। महाराज सार्व भौम होकर दीर्घ जीवी हों।"

युधिष्ठिर ने अपने सगे बन्धु बांधवों की अन्त्येष्टि क्रिया की। युधिष्ठिर को अपने मित्रों के बध का बहुत शोक था। वे एक मास तक गङ्गा तट पर रहे। वहां ऋषि मुनियों ने युधिष्ठिर का शोक

दूर करने के लिए अनेक आख्यान और नीति के उपदेश दिये। किन्तु धर्मराज का शोक कम न हुआ। उन्होंने कहा—मुझे राज्य नहीं चाहिए। मैं तो अरण्य में जाकर तप करूंगा। तब व्यास जी ने उन्हें उपदेश दिया। पीछे उन्हें भीष्मपितामह के पास भेजा। युधिष्ठिर अपने चारो भाइयों और श्रीकृष्ण को साथ लेकर भीष्म-पितामह के पास गये। भीष्म को प्रणाम कर सब लोग चारो ओर बैठ गये। श्रीकृष्ण ने सब बातें भीष्म से कह सुनायीं। भीष्म जी ने युधिष्ठिर को पास बैठाकर राज धर्म, आपद्धर्म, दानधर्म मोक्षधर्म आदि भली भांति समझाया। तब युधिष्ठिर का शोक कुछ कम हुआ। पीछे उत्तरायण होने पर भीष्म पितामह ने अपना प्राण विसर्जन किया। युधिष्ठिर ने उनका अन्तिम संस्कार किया।

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा—महाराज! सब प्रजा की यही इच्छा है कि आप शीघ्र ही राज्यासन पर बैठें। यह सब सुन युधिष्ठिर रथ पर बैठ हस्तिनापुर चले आये। भीम सारथि बने और अर्जुन ने छत्र लगाया। नकुल और सहदेव ने चंवर धारण किये। इस तरह बड़ी धूमधाम के साथ युधिष्ठिर हस्तिनापुर आये। पुनः ब्राह्मणों की आज्ञा ले राज्यासन पर बैठे। महाराज युधिष्ठिर सम्राट हुए, भीम युवराज बने। अर्जुन सेनापति बनाये गये। नकुल और सहदेव अपने ज्येष्ठ भाई के शरीर रक्षक नियुक्त हुए। इस प्रकार राज्य सुख करने लगे। युधिष्ठिर के शासन से प्रजा अत्यन्त सन्तुष्ट हुई। चारो ओर यही सुनाई पड़ता था कि यह तो धर्मराज है।

सब कुछ था, महाराज युधिष्ठिर सम्राट हुए, गया राज्य मिला। किन्तु उनके हृदय से शोक दूर न हुआ। युधिष्ठिर यही कहते थे कि मेरे ही अपराध से यह युद्ध हुआ, मेरे ही कारण प्रिय कुटुम्बियों का संहार हुआ। हा! इस दोष से मैं कैसे मुक्त होऊँगा? इस प्रकार युधिष्ठिर को शोकाकुल देख कर, श्रीकृष्ण ने उन्हें अश्वमेध यज्ञ करने की सम्मति दी। सौ अश्वमेध यज्ञ जो करता है वही सर्व श्रेष्ठ राजा माना जाता है। युधिष्ठिर ने यज्ञ आरम्भ किया अपना श्रेष्ठत्व स्थापित करने के लिए अश्व छोड़ा गया, अर्जुन उसकी रक्षा को नियुक्त हुए। कितने ही राजाओं ने यज्ञ अश्व को बांधा, परन्तु अर्जुन ने सब को परास्त किया। चारों दिशाओं से विजय प्राप्त कर, अश्व लौट आया। तब युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों को बुलाकर बड़े धूम धाम से यज्ञ समाप्त किया। सब राजा अपने अपने देश को गये। युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ कर संसार में अपनी कीर्ति स्थापित की। कुछ काल के बाद धृतराष्ट्र और गांधारी भीम के तिरस्कार से वन में तप करने चले गये। पहिले तो युधिष्ठिर ने उन्हें बहुत रोका, जब वे न माने तब उनके दान धर्म के लिए प्रचुर धन रख दिये, साथ में कुन्ती भी गयीं। कुछ काल बाद ईश्वराधन करते हुए तीनों ने प्राण त्याग किया। युधिष्ठिर ने उनका अन्तिम संस्कार किया।

कुछ काल बीतने पर श्रीकृष्ण भी स्वधाम को चले गये। यह समाचार सुन कर युधिष्ठिर आदि को बड़ा ही शोक हुआ। अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु की स्त्री के परीक्षित नामका एक पुत्र हुआ था।

उसी को राज्य धर्म की शिक्षा दे, पाण्डव गण द्रौपदी को साथ ले हिमालय को गये। हिमालय पर चढ़ने के समय सब से प्रथम द्रौपदी पीछे सहदेव, नकुल, अर्जुन और उनके पीछे भीम क्रमशः पंचत्त्व में मिल गये। पाण्डवों के साथ में एक कुत्ता भी आया था। चारो पाण्डव जब मर गये तब केवल वह कुत्ता और युधिष्ठिर रह गये। उस समय इन्द्र विमान लेकर उनके पास आये। युधिष्ठिर से कहा—आप विमान पर बैठ कर स्वर्ग चलें। यह सुन युधिष्ठिर ने कहा—पहिले इस कुत्ते को विमान पर बैठाओ तो हम चलें। इन्द्र ने कहा—यह निकृष्ट पशु है, इसे विमान पर नहीं बैठा सकते। यह सुन युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"यदि इसे आप स्वर्ग नहीं ले जायंगे तो मैं भी इसे छोड़ स्वर्ग नहीं जाऊंगा।"

यह सुनते ही वह कुत्ता तुरन्त धर्मराज बन गया। धर्मराज युधिष्ठिर से बोले-वत्स युधिष्ठिर तुम्हारा धर्म अचल है, जाओ, अब स्वर्ग जाकर सुख भोग करो। युधिष्ठिर ने कहा—चारो भाई और द्रौपदी को छोड़ कर स्वर्ग कैसे जाऊं? धर्म ने कहा—वे तुमसे आगे स्वर्ग पहुँच गये।

तब युधिष्ठिर सदेह स्वर्ग आये। वहां दुर्योधनादिक मित्रों को देखा पर वहां अपने भाइयों को और द्रौपदी को नहीं देखा। तब इन्द्र से पूछा—हमारे भाई नहीं दिखाते। इन्द्र ने कहा वे नरक में हैं। यह सुन युधिष्ठिर ने कहा—तो मुझे भी वहीं पहुँचा दो। जिन भाइयों ने मेरे लिये इतने कष्ट सहे हैं, उनको छोड़ कर मैं स्वर्ग सुख भोगना नहीं चाहता। यह सुन धर्म ने दूत के साथ

युधिष्ठिर को नरक देखने को भेज दिया। वहां युधिष्ठिर ने अपने भाइयों को देखा। युधिष्ठिर ने उन्हीं के साथ रहने की इच्छा प्रकट की। इन्द्र ने कहा—आप यहां नहीं रह सकते, क्योंकि आपके कर्म स्वर्ग के योग्य हैं। यदि आपको अपने भाइयों की चिन्ता है तो आप अपना पुण्य फल इन्हें दें तो यह लोग भी नरक से मुक्ति पा सकते हैं। युधिष्ठिर ने उसी समय अपना समस्त पुण्य भाइयों को दे दिया। युधिष्ठिर की भ्रातृ वत्सलता देख इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हुए। पीछे युधिष्ठिरादि पांचों पाण्डवों को और द्रौपदी को स्वर्ग में ले गये।

धन्य है महाराज युधिष्ठिर! तुम्हें धन्य है! तुम्हारी भ्रातृ वत्सलता धन्य है! स्वर्ग सुख अकेले भोग न करके तुमने भाइयों के साथ रहने के लिये नरक में रहना पसन्द किया। अपने सगे भाइयों पर ही नहीं सौतेले भाई नकुल सहदेव से भी युधिष्ठिर उतना ही स्नेह करते थे जितना अर्जुन और भीम से। भ्रातृस्नेह संपत्ति के बराबर दूसरा सुख नहीं। युधिष्ठिर ने सर्वदा अपने चारों भाइयों को एक दृष्टि से देखा। धर्म-पूर्वक उन सब का लालन पालन किया। सर्वदा सुख दुख में अपने भाइयों के साथ दिन बिताया। सर्वदा क्षमाशील रहे। कभी भाइयों पर क्रोध प्रकट नहीं किया। सदा उनके आदर का ध्यान रखते थे। कभी यह नहीं सोचा कि ये मुझ से छोटे हैं। सदा समानता का वर्ताव किया। प्रजा को सुखी रखने के लिये युधिष्ठिर ने कोई बात उठा न रखी। सद्गुणों का कभी उन्होंने त्याग नहीं किया। प्रजा को किस प्रकार प्रसन्न रखा

जाता है, सद्गुणों को ग्रहण करने से परिणाम में क्या लाभ होता है, सत्य की विजय कैसे होती है इत्यादि बातों की शिक्षा हमें राजा युधिष्ठिर के जीवन चरित्र से अच्छी तरह मिलती है।

धर्मराज ने युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को स्वर्ग गङ्गा में स्नान कराया जिससे उनके दिव्य रूप हो गये। पीछे सब भाइयों ने स्वर्ग सुख भोग किया। किस के प्रताप से? युधिष्ठिर के ही पुण्य प्रभाव से।

युधिष्ठिर ने चालीस वर्ष इन्द्रप्रस्थ में और युद्ध के अन्त में ३६ वर्ष हस्तिनापुर में राज्य किया था। युद्ध के समय में युधिष्ठिर की अवस्था ८० वर्ष की थी। इस प्रकार १२५ वर्ष की अवस्था में युधिष्ठिर स्वर्ग को गये थे। कलियुग में पहले शक कर्ता राजा युधिष्ठिर ही थे। युधिष्ठिर का शक ३०४४ वर्ष तक चला था। अन्त में विक्रम शक चला। युधिष्ठिर ब्राह्मण के बड़े भक्त थे। उनका राज्य कल्पद्रुम माना गया था। ऐसे धर्मात्मा भ्रातृ वत्सल, सत्यवादी राजा क्या फिर संसार में उत्पन्न होंगे?

महाराज युधिष्ठिर के जीवन की घटनाएँ ऊपर लिखी गयी हैं। वे सम्भव हैं या असम्भव इस पर मुझे विचार करना नहीं है। युधिष्ठिर का समय क्या है, महाभारत युद्ध के समय ग्रह संस्था किस प्रकार की थी आदि बातों पर विचार करना मैं अनावश्यक समझता हूं। एक तो इन बातों पर कई दृष्टियों से विचार हो चुका है, दूसरे उस विचार का कुछ विशेष लाभ नहीं। हमारे सामने सम्भव और असम्भव का प्रश्न ही नहीं उठता। जो बात एक

के लिए असम्भव है वही दूसरे के लिए सम्भव है, कभी कभी एक बात एक के लिए असम्भव रहती है वही बात उसी के लिए समय बदलने पर सम्भव हो जाती है। सर्वसाधारण के लिए एक गधे को उठाना आसान नहीं पर राममूर्ति के लिए वह तमाशा है, हमारे लिए एक हजार दान करना असम्भव है पर घोष और पालित के लिए वही सम्भव है, हमारे लिए एक बिस्तुइया मारना भी कठिन है पर वीरों के लिए मनुष्यों के दल के दल को देखते ही देखते चित्त कर देना आसान है। ऐसी दशा में किसी के लिए क्या सम्भव है और क्या असम्भव है यह हम भला कैसे कह सकते हैं। सो भी युधिष्ठिर की बात आज की नहीं है, इसको हुए पांच हजार वर्ष से भी अधिक हुए। उस समय के मनुष्यों को हमने देखा नहीं, उनमें कैसी शक्ति थी, उनका हृदय कैसा था, उस समय समाज में किस भाव की प्रबलता थी आदि बातों का हमें कुछ ज्ञान नहीं फिर भला उस समय की बात के लिए सम्भव असम्भव के विषय में क्या कह सकते हैं।

युधिष्ठिर की जीवन घटनाओं पर विचार करने वालों में प्रायः ऐकमत्य नहीं पाया जाता। किसी की दृष्टि में इनका बड़ा महत्व है, कोई इन्हें कमजोर तबियत का आदमी समझते हैं, और किसी किसीकी राय इनके सम्बन्ध में इतनी कड़ी है कि वे इन्हें मूर्ख तक कह देते हैं। प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि वह अपनी राय अलग रखे, इसके लिए कोई किसी को दोषी नहीं ठहरा सकता। हां यह बात दूसरी है कि अधिकांश जनता सभी की राय को पसन्द न

करे, अधिक संख्यक लोग किसी एक ही राय की ओर झुकें।

युधिष्ठिर के सम्बन्ध में जो हम लोग राय क़ायम करते हैं उसका सम्बन्ध इनकी कार्य प्रणाली से है। दुर्योधन ने पांडवों के साथ जो व्यवहार किया वह अन्याय पूर्ण था, इसमें सन्देह नहीं। वह अन्याय भी मानवी अन्याय का दायरा डांक गया था और राक्षसी अन्याय की श्रेणी में सर्वश्रेष्ठ आसन उसने पाया था। ऐसे के साथ सज्जनता का व्यवहार, ऐसे के साथ पारिवारिक प्रेम का परिचय, ऐसे से धर्म पूर्ण आचारण क्या न्यायानुमोदित है। जो अपने प्रति क्रूराचरण करे उसे हम क्षमा करें क्या यह धर्म है, क्या यह उचित है? क्षमा की भी तो सीमा होनी चाहिए। क्षमा मनुष्य के लिए है, मनुष्य क्षमा के लिए नहीं है। क्षमा में पात्रापात्र का विचार होना चाहिए, क्षमा में विवेक को प्रधान स्थान मिलना चाहिए, जैसा कि और विषयों में उसे मिलता है। जान बूझ कर अपने साथ झूठ व्यवहार करने वाले के प्रति क्षमा का आचरण क्या विवेक सम्मत है? जो हमारे अस्तित्व के मिटाने के लिए जीजान से कोशिश करता है, उसको क्षमा करने की आज्ञा क्या विवेकयुक्त है? क्या मनुष्यों को क्षमा के लिए अपना अस्तित्व मिटा देना चाहिए? क्षमा दया उदारता आदि गुण अच्छे हैं, ये हमारे लिए हैं, ये हमारे सुख सम्पत्ति के लिए हैं, पर जिनसे हमें हानि होती हो, जिनसे हमारा अस्तित्व ही मिटता हो वैसे गुण को दूर ही से हमें नमस्कार करना चाहिए, वैसे गुण हमें न चाहिए। युधिष्ठिर की क्षमा युधिष्ठिर को मिटाने वाली थी, उन्होंने अपने

धर्माचरण के कारण अनेक कष्ट उठाये। उनके पास किस साधन की कमी थी, उनके चारो भाइयों की वीरता संसार प्रसिद्ध थी, अर्जुन के पराक्रम से इन्द्र भी भयभीत होते थे और देवलोक कांपता था, भीम ने अपने पराक्रम से नाग लोक तक को हिलाया था तथा उन्होंने राक्षसों पर विजय प्राप्त की थी. नकुल सहदेव भी कुछ ऐसे वैसे न थे, स्वयं युधिष्ठिर भी कम वीर न थे. ऐसी दशा में दुर्योधन को क्षमा! कितने अनर्थ की बात है। जिसने द्रौपदी को विवस्त्रा किया, भीम को विष दिया, माता के साथ पांचो भाइयों को जला डालने के लिए लाक्षागृह बनवाया और मालूम होने पर भी धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र को इस पाप के करने से रोका तक नहीं, जिस दुर्योधन ने युधिष्ठिर का राज्य छीना, वन में भेजा, हर तरह से तंग किया, उसी दुर्योधन को क्षमा! इसका अर्थ क्या है, ऐसों को क्षमा करना साधु का काम है या पागल का! राजा के लिए यह नीति उत्तम नहीं, राजा के लिए यह शोभा की बात नहीं। राजा युधिष्ठिर ने स्वयं कष्ट उठाया और अपने भाइयों को भी कष्ट सहने के लिए विवश किया. ऐसी दशा में हम उनकी प्रशंसा कैसे कर सकते हैं'

महाकवि भारवि ने भी द्रौपदी के मुँह से इसी तरह की बात कहवायी है। द्रौपदी कहती है—

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम्।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः संजुहुधीह पावकम्॥

"विक्रमहीन होकर क्षमा को ही यदि तुम सुख का साधन समझते हो तो राजाओं का चिन्ह यह धनुष क्यों धारण किये

हुए हो, उसको छोड़ दो, और जटाधारण करके अग्नि में हवन करो।" अर्थात् शत्रु को क्षमा करना बलहीनों का काम है साधुओं का काम है राजाओं का नहीं। यही साधारण लोगों की समझ है और उसी समझ के अनुसार लोग युधिष्ठिर को भला बुरा भी कहते हैं।

सर्व साधारण की जो समझ है वही न्याय है वही सत्य है यह कोई बात नहीं और सर्व साधारण की समझ से सत्य और न्याय दूर ही रहता है यह भी कोई बात नहीं। जनसाधारण की समझ की कोई कसौटी नहीं और न उसकी कोई निश्चित नींव ही है, उसकी उत्पत्ति कब कैसे किस रूप में होगी इसका पता नहीं। अतएव यदि जनसाधारण की समझ के अनुसार किसीकी नीति अच्छी नहीं है तो हम लोगों को उसे कोसने के लिए तैयार नहीं होना चाहिए, यदि जनसाधारण की समझ न्याय और सत्य के अनुकूल भी है तो उसके प्रतिकूल नीति के सम्बन्ध में हम लोगों को बोलने का कुछ हक़ है, हम लोग उसके अनुकूल या प्रतिकूल अपनी सम्मति प्रकाशित कर सकते हैं। इस दृष्टि से जब हम युधिष्ठिर की नीति पर विचार करते हैं तो जनसाधारण की समझ के प्रतिकूल होने पर भी उसे निःसार या हेय नहीं पाते। राजा दुर्योधन महाराज युधिष्ठिर का केवल शत्रु ही न था किन्तु भाई भी था, महाराज धृतराष्ट्र युधिष्ठिर के चाचा थे। भाई और चाचा का नाता पारिवारिक नाता है, बहुत ही समीप का सम्बन्ध है। उनसे किसी विषय में मत भेद होने पर वे आपस में शत्रु हो

सकते हैं, वे आपस में एक दूसरे के प्रति प्रतिकूलाचरण कर सकते हैं। पर क्या इससे उनका आपसी सम्बन्ध टूट जायगा, वे भिन्न भिन्न हो जायंगे, मर्यादा को छोड़ कर एक दूसरे को सताने का प्रयत्न करेगा। राजा दुर्योधन युधिष्ठिर के प्रति जो व्यवहार करता है, वह निन्द्य है, इसमें किसी को सन्देह नहीं, तो क्या युधिष्ठिर को भी उसी प्रकार का उत्तर देना चाहिए, उन्हें भी मर्यादा छोड़ देनी चाहिए। उचित तो नहीं। यदि महाराज युधिष्ठिर भी दुर्योधन के समान आचरण करते तो यह निश्चित था उन्हें जो सफलता मिली वह न मिलती। आजतक जनता के हृदय में उनके प्रति जो भाव वर्तमान है वह न रहता। ऐसी दशा में युधिष्ठिर की नीति को कोसने का कोई कारण नहीं।

दुर्योधन युधिष्ठिर का भाई था। दिल्ली के राज्य में उसका भी उतना ही हक़ था जितना युधिष्ठिर का। पर दुर्योधन की समझ में यह बात नहीं आती थी, अथवा कतिपय मानसिक दुर्वृत्तियों से प्रेरित होने के कारण वह समझ कर भी समझना नहीं चाहता था। उसकी इसी हठधर्मी का यह फल हुआ कि पाण्डवों से उसका द्वेष हुआ। वह पाण्डवों को अपना भयानक शत्रु समझने लगा और शत्रु के प्रति राक्षसी कृत्यों को करने लगा, निःसन्देह दुर्योधन के कार्यों से युधिष्ठिर को कष्ट उठाना पड़ा और अत्यन्त कष्ट उठाना पड़ा, पर चारा क्या था, उसे वे रोक नहीं सकते थे, उस पर इनका कोई अधिकार न था, वह बड़े उद्धत स्वभाव का था और सब से बड़ा बल उसके पास धृतराष्ट्र

का था। धृतराष्ट्र से वह अपनी इच्छा के अनुसार पाण्डवों के लिए आज्ञा निकलवा सकता था और निकलवाता था। युधिष्ठिर के लिए उस आज्ञा का मानना आवश्यक था। पिता के समान पूजनीय ताऊ की आज्ञा न मानी जाय यह धर्म विरुद्ध बात है, बिना सोचे समझे उस आज्ञा का पालन करना चाहिए यही शिष्ट सम्प्रदाय है। युधिष्ठिर अपने उसी धर्मका पालन करते थे।

भीम की भी बड़ी इच्छा थी कि कौरवों की बुराइयों का उत्तर उसी कड़ाई से दिया जाय जिस कड़ाई से वे हम पर बरती जाती हैं। पर युधिष्ठिर इसके पक्ष में न थे। युधिष्ठिर का ध्यान था झगड़े की जड़ पर। झगड़ा था हिस्से का और वह कड़ाई के बरताव करने से नहीं मिल सकता था। अतएव उन्होंने उधर ध्यान ही नहीं दिया। युधिष्ठिर ने जब प्रयत्न किया तब हिस्सा पाने का, शाखा प्रशाखा की बातों की ओर इनका ध्यान न था।

युधिष्ठिर ने राजनीति को अपने लिए समझा था और अपने को धर्म के लिए। अपनी इस समझ का आजीवन उन्होंने पालन किया, और उनकी सफलता का मूल कारण उनकी यह नीति ही है, इसमें सन्देह नहीं। उनकी प्रतिज्ञा थी—

राज्यञ्च वसुदेहश्च भार्याभ्रातृसुताश्चये।
यच्च लोके ममायत्तं तद्धर्माय सदोद्यतम्॥

खण्ड तीन

दयावीर

(१) जीमूतवाहन।

(२) शिवि।

(३) बुद्धदेव।

जीमूतवाहन, शिवि और बुद्धदेव

रों में दयावीर का तीसरा नम्बर है, इसका कारण महत्व का न्यूनाधिक होना नहीं है किन्तु कार्यक्षेत्र का संकोच है। युद्धवीर और धर्मवीर का कार्य बड़े क्षेत्र में प्रारम्भ होता है और दयावीर का छोटे क्षेत्र में। दयावीर अपनी एक विशेष मनोवृत्ति से परिचालित होता है, पर युद्धवीर और धर्मवीर का परिचालक उसका कर्तव्य ज्ञान होता है, और कर्तव्य ज्ञान समस्त मनोवृत्तियों के समूह से बनता है।

जीमूतवाहन, शिवि और बुद्धदेव ने अपनी एक उत्तम मानसिक वृत्ति के लिए कितना बड़ा त्याग किया है और उससे वे कितने धन्य हुए हैं यह बात विचारने की है। ये लोग अपने अपने कार्यों में आदर्श हैं। यदि कोई अपने को अपने कुल और जाति को धन्य बनाना चाहे तो उसे इन आदर्श पुरुषों की जीवन घटनाओं से शिक्षा लेनी चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि मनुष्य धर्म की अनेक क्रियाओं के अनुष्ठान से ही कृतकृत्य नहीं होता, वह धन्य होता है त्याग से, चाहे कार्य छोटा हो या बड़ा यदि उसके लिए उत्तम भाव से प्रेरित होकर अधिक त्याग किया जाय तो मनुष्य धन्य हो सकता है। आगे लिखी इनकी संक्षिप्त जीवन घटनाओं से इसी बात का परिचय मिलता है, हम लोगों को यही उपदेश मिलता है।

दयावीर जीमूतवाहन

शिराः मुखैः स्पन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मममांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात्वं विरतो गरुत्मन् ॥

यह श्लोक जीमूतवाहन ने गरुड़ से कहा था । बात यह थी कि एक सर्प की रक्षा के लिए उसके बदले विद्याधर चक्रवर्ती जीमूतवाहन भक्ष्यरूप से गरुड़ के सामने उपस्थित हुए । गरुड़ ने ज्यों ही चोंच मारी, उन्हें मालूम हुआ कि यह सांप का खून नहीं है । वे ठहर गये । तब जीमूतवाहन ने कहा—आप ठहर क्यों गये, नाड़ियों से खून तो निकल ही रहा है, शरीर में मांस है ही, आपकी भूख बुझ गयी हो सो भी बात नहीं है, फिर आप रुक क्यों गये ? इस अद्भुत घटना को ध्यान से देखिए, सोचिए इसमें कितनी उज्वलता और अलौकिकता है । इनका परिचय नीचे दिया जाता है, जिससे आप लोगों को इनकी महत्ता समझने में सुगमता हो ।

ये विद्याधर चक्रवर्ती जीमूतकेतु के पुत्र थे । विद्याधर एक देवयोनि को कहते हैं । जीमूतवाहन अपने पिता के योग्य पुत्र थे, पिता के स्वाभाविक गुण तो इनमें थे ही, पिता की शिक्षा के प्रभाव से उनमें और भी अनेक लोकोत्तर गुण हो गये थे । इनके पिता नीति परायण धर्मात्मा और प्रजापालक राजा थे । उन्होंने अपने समय में दया मिश्रित न्याय से प्रजा का पालन किया था । राजा जीमूतकेतु ने अपनी वृद्धावस्था देखकर राज्यभार पुत्र को सौंपने तथा स्वयं तपस्या के लिए वन में जाने का निश्चय किया । उन्होंने

अपना विचार पुत्र को बताया। पुत्र असीम पितृभक्त था, वह राज्य नहीं चाहता था, वह एक क्षण के लिए पिता से विलग होना नहीं चाहता था। वह प्रतिदिन पिता की सेवा किया करता था, उनके पास बैठ कर उपदेश सुना करता था, उनका उच्छिष्ट भोजन करता था, पिता के वन में चले जाने से उसके ये नियम कैसे निभ सकते थे, पर पितृभक्त पुत्र पिता के निश्चय को भी नहीं पलटना चाहता था। पिता तो अपना निश्चय कर ही चुके थे, अतएव पुत्र ने भी पिता के साथ वन में जाना निश्चित किया। राजा ने राज्यपाट मन्त्रियों को सौंपा और वे स्त्री पुत्र के साथ वन में चले गये।

पहले जिस वन में जाकर इन लोगों ने अपना आश्रम बनाया थोड़े दिन रहने के पश्चात् वह स्थान इनके अनुकूल प्रतीत न हुआ। वहां अनेक आश्रम थे, उनमें अनेक ऋषिमुनि रहते थे, इस कारण भोज्य वस्तु की वहां प्रचुरता न थी। साधु हो चाहे सन्त सब प्रकार के कष्ट सहन हो सकते हैं, पर भोजन का कष्ट सहना बड़ा कठिन काम है। जीमूतकेतु का दल भी व्याकुल हो गया। अन्त में सोच विचार कर जीमूतकेतु ने अपने पुत्र को दूसरा आश्रमयोग्य स्थान ढूंढ़ने के लिए कहा। जीमूतवाहन अपने मित्र आत्रेय के साथ चले। यह इनका बाल सखा था, अतएव इनमें सभी तरह तरह की बातें होती थीं, कोई किसीसे कुछ पर्दा नहीं रखता था। तरह तरह की आपस में बातें करते ये चले। पितृभक्ति और राज्यसुख की तुलना हुई। जीमूतवाहन पितृभक्ति को प्रधान बतलाते थे और उनका मित्र आत्रेय राज्यसुख को प्रधान बतलाता था।

अनेक तर्क वितर्क हुए अनेक युक्तियाँ दी गयीं, अन्त में जीत रही जीमूतवाहन की। पुनः राजा जीमूतकेतु के शत्रु मातङ्ग की दुष्टता की बात छिड़ी पर राज्य को हड़पने के लिए उसकी निन्दा प्रारम्भ हुई, उससे होनेवाली हानियों का चित्र खींचा गया। यह प्रसङ्ग भी थोड़ी देर में समाप्त हुआ। वन की शोभा प्रकृति की अलौकिकता तथा उसकी सुन्दरता का वर्णन प्रारम्भ हुआ, प्रकृति के प्रधान निवास स्थान वनों की महिमा का वर्णन होने लगा, ऋषि मुनियों के स्वभाव उनकी दिनचर्या आदि के सम्बन्ध में भी बातें हुईं। इस प्रकार अनेक विषयों पर बातें करते हुए वे एक रमणीय स्थान पर पहुँचे। हरे हरे वृक्ष, फलफूलों की अधिकता, जल की अनुकूलता आदि उस स्थान की उपयोगिता भी बढ़ा रहे थे। ये लोग जिस स्थान पर पहुँचे थे वह मलयाचल की तलहटी थी, दोनों ही बड़े प्रसन्न हुए। वहीं बैठ गये, और उसकी सुन्दरता पर मुग्ध हो गए। वहां की शीतल मन्द और सुगन्धित वायु ने इन लोगों की थकावट दूर कर दी। सोते का स्वच्छ और शीतल जल पीकर इन लोगों ने नया बल पाया। दोनों ने वहीं आश्रम बनाना निश्चित किया। स्थान नियत हुआ। कितनी कुटी बनेगी, किस कुटी में कौन रहेगा इस बात का भी निश्चय हो गया।

अंगों का फरकना भावी शुभाशुभ का सूचक समझा जाता है। पुरुष का दक्षिण अंग फरकना शुभ समझा जाता है और स्त्री का वाम। जीमूतवाहन का दक्षिण नेत्र फरक रहा था, इससे उनका हृदय आशान्वित हो गया था। आंखें आने वाले शुभ के

स्वागत के लिये व्याकुल हो रही थीं। उन्होंने सामने हरी दूब के बिछौने पर बैठा हरिणों का दल देखा। वह निस्पन्द था, मानो कोई मधुर शब्द सुन रहा हो। जीमूतवाहन के मित्र आत्रेय ने भी यह दृश्य देखा। उसने अनुमान करके कहा, अवश्य ही वह हरिण-दल गान सुन रहा है, हरिणों की निश्चलता का इसके अतिरिक्त दूसरा कारण हो ही नहीं सकता। इसी अनुमान के आधार पर वे आगे बढ़े, कुछ दूर आगे जाने पर उन लोगों को एक अस्पष्ट ध्वनि सुनायी पड़ी। वे और आगे गये। उन लोगों ने एक मंदिर देखा। वे मन्दिर के पास पहुँचे, वहां उन लोगों ने देखा कि एक स्त्री वीणा बजा रही है। परायी स्त्री को देखना सज्जनों का काम नहीं यह सोचकर वे लोग वहीं ठहर गये और वहीं से वीणा के साथ वीणा तुल्य कण्ठ स्वर सुनने लगे। उन लोगों ने सुना कि वह स्त्री गानमें देवी से अपना अभीष्ट वरदान मांग रही है। उसके पास ही एक दूसरी स्त्री खड़ी है जो कहती है—तुम तो व्यर्थ ही इनसे इतनी आशा लगाये बैठी हो, इनको दया भी है? इतने दिनों से तुम प्रार्थना करती हो उसका क्या कुछ फल हुआ। पर गाने वाली स्त्री उसकी बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं देती। वह गाती ही जा रही है। जब उसका गाना समाप्त हुआ तब उसने अपनी सखी से कहा। देवी करुणामयी हैं। इन्होंने मुझे अभीष्ट वरदान स्वप्न में दिया है।

जीमूतवाहन और उनका मित्र दोनों ही ये बातें सुन रहे थे। उन लोगों को इस कथोपकथन से मालूम हुआ कि यह अ॥६॥

कुमारी है। वे लोग मन्दिर के द्वार पर गये, उन लोगों ने झांककर भीतर देखा। उस स्त्री का अनुपम सौन्दर्य देखकर राजकुमार बहुत प्रसन्न हुए। राजकुमार ने कहा जैसा स्वर मधुर है रूप भी उतना ही मनोहर है। राजकुमार ने उसकी बड़ी प्रशंसा की और उसके दर्शन पाने से उन्होंने अपने को कृतार्थ समझा।

आत्रेय बड़ा चतुर था राजकुमार के वैराग्य से वह दुखी रहा करता था. सदा वह अवसर ढूंढा करता था, जिससे राजकुमार का मन संसार की ओर लगे। राजकुमार के मुंह से उस कन्या की प्रशंसा सुनकर उसने समझ लिया कि इस कन्या को देखकर इनके हृदय में अनुराग का अंकुर उत्पन्न हो गया है। अवसर हाथ आया जानकर उसने राजकुमार को मन्दिर के भीतर करके कहा कि भगवती का दिया हुआ यही वर है। कुमारी ने राजकुमार की ओर आंख उठाकर देखा; पर लज्जा ने उसकी आंखें नीची कर दीं. वह देख न सकी। अपनी इच्छा के विपरीत वह वहां से जाने की तैयारी करने लगी। राजकुमार के मित्र ने अतिथि सत्कार न करने का कुमारी पर दोषारोपण किया. उसने कुमारी के अविनय की निन्दा की। कुमारी ठहर गयी, लुकछिप कर वह अपनी इच्छा पूरी करने लगी। इसी तरह वहां बहुत देर हो गयी, दोपहर का समय हो गया, किसी को कुछ मालूम भी नहीं हो सका कि यह समय इतनी शीघ्रता से कैसे बीता। उसी समय कुमारी को बुलाने के लिए एक तापस आया। कुमारी चली गयी, राजकुमार भी मन्दिर से निकल कर अपने नित्य कर्म करने में प्रवृत्त हुए।

मन्दिर में राजकुमार ने जिस कन्या को देखा था उसका परिचय देना आवश्यक है। सिद्ध नामक एक देवयोनि है, उसके राजा का नाम विश्वावसु था। विश्वावसु की दो सन्तान थीं एक कन्या और एक पुत्र। कन्या का नाम मलयवती था और पुत्रका नाम मित्रावसु था। सिद्धराज विश्वाबसु की कन्या यही मलयवती राजकुमार से मन्दिर में मिली थी।

मलयवती के पिता की इच्छा थी कि वे अपनी कन्या का व्याह राजकुमार जीमूतवाहन से करें। मलयवती भी लोगों से राजकुमार के गुण सुनकर उनपर अनुरक्त हो चुकी थी। राजकुमार को पाने के लिए वह देवी की आराधना करती थी।

विश्वावसु को जब यह खबर लगी कि राजकुमार यहीं मलयाचल की तराई में आये हैं तब उन्होंने अपने पुत्र मित्रावसु को उनसे भेंट करने के लिए भेजा था।

कुमारी और जीमूतवाहन दोनों परस्पर अनुरक्त हो गये थे, परस्पर का अदर्शन दोनों को बड़ा दुखदायी था। राजकुमार कुमारी को देखना चाहते थे और कुमारी राजकुमार को देखना चाहती थी। कुमारी अपने मनोरथ की पूर्ति का कोई विशेष उद्योग नहीं कर सकती थी, उसके सामने लज्जा का एक बड़ा भारी बांध था; सिवा मन ही मन घुलने के उसके पास कोई दूसरा चारा नहीं था। पर राजकुमार के लिये यह बात न थी, वे अपना मनोरथ पूराकर सकते थे उसके लिए उद्योग भी कर सकते थे, उनका मित्र आत्रेय उन्हें सहायता देनेवाला था ही। राजकुमार कुमारी की टोह में अपने

मित्र के साथ चले। थोड़ी दूर जाने पर एक लता-भवन मिला। राजकुमार ने उसे पसन्द किया और वहीं थोड़ी देर विश्राम करने के लिए वे उसमें प्रवेश करने लगे। भाग्यवश कुमारी भी अपनी सखियों के साथ वहीं थी। इनको आते देख वह वहां से हट गयी, और ओट में चली गयी। राजकुमार उस लता भवन में गये। वहां एक पत्थर की पटिया पड़ी थी उसी पर जाकर वे बैठ गये। अपनी प्रणयिनी की चर्चा तथा उसका चित्र बनाना आदि विरहियों को बड़ा प्रिय है, इससे उनको बड़ा सहारा मिलता है। राजकुमार पासही से गेरू मंगा कर उसी पत्थर पर कुमारी का चित्र बनाने लगे। कुमारी ने देखा कि राजकुमार चित्र बना रहे हैं, पर दूर होने के कारण वह पहचान न सकी कि यह चित्र है किसका, अतएव उसने समझ लिया कि ये राजकुमार किसी दूसरी स्त्री पर आसक्त हैं, और उसीका चित्र बना रहे हैं। इससे उसे बड़ा कष्ट हुआ। उस स्थान को छोड़ कर उसने दूसरी जगह जाना चाहा। पर उसकी सखी ने जाने न दिया। लाचार वह भी ठहर गयी, करती क्या, ज़ोर ज़बर्दस्ती करने से राजकुमार को यह खबर हो जाती और वह छिप कर देख रही है यह बात लोगों को मालूम हो जाती। अतएव वह वहीं ठहर गयी। उसी समय मलयवती का भाई मित्रावसु भी राजकुमार को ढूँढ़ते ढाँढ़ते वहाँ पहुँच गया। शिष्टाचार के उपरान्त उसने कहा, "श्रीमान् आप मेरी बहिन मलयवती से ब्याह करें यह मेरे पिता की इच्छा है।" राजकुमार को यह बात विदित न थी कि वे जिस पर अनुरक्त हैं

वही मलयवती है और वही इनकी बहिन है, अतएव उन्होंने मित्रावसु के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया और कह दिया कि मैंने किसी दूसरी स्त्री से व्याह करना निश्चित किया है। राजकुमार से बातें करके मित्रावसु वहाँ से लौट गया।

मलयवती ने भी अपने भाई और राजकुमार की बातें सुनीं, वह हताश हो गयी, उसने निश्चय किया कि जब मेरा अभिलाषित वर नहीं मिलता तो इस दुःखमय जीवन से मरना भला है। अपना यह विचार दृढ़ कर उसने अपनी सखी को किसी कार्य के बहाने बाहर भेज दिया और एक बल्ली तोड़ कर वह फांसी लगाने चली। कुमारी की सखी बाहर गयी पर छिप कर देखने लगी कि वे अकेली क्या करती हैं, क्योंकि उसने समझ लिया था कि बिना कारण ये मुझे बाहर भेज रही हैं, अतएव इस एकान्त करने का कोई विशेष मतलब होना चाहिए। अतएव जब उसने देखा कि कुमारी फांसी लगा रही हैं तब वह चिल्लायी और राजकुमार को बुलाने लगी। राजकुमार पास ही थे झट जाकर उन्होंने उसके गले से फांसी छुड़ायी और सखी का भय दूर किया। हताश मलयवती को उन्होंने आश्वासन दिया और अपना प्रेम उस पर प्रकट किया। जब कुमारी की सखी ने कहा— कुमार, आप तो किसी दूसरी स्त्री पर अनुरक्त हैं जिसका चित्र आपने लता मण्डप की प्रस्तर पट्टिका पर बनाया है। राजकुमार ने इस सन्देह को दूर करने के लिए उसे वह चित्र दिखा दिया। वह चित्र मलयवती का ही था और इतनी निपुणता के

साथ बनाया गया था कि राजकुमार की इस चित्र-रचना नैपुण्य की उसने खूब तारीफ़ की। राजकुमार ने कुमारी के गले का पाश तोड़ने के समय उसका हाथ पकड़ा था। उसी समय उनका गान्धर्व विवाह हो गया। इस मङ्गल समाचार से सभी प्रसन्न हुए। महाराज जीमूतकेतु ने राजकुमार जीमूतवाहन से मलयवती का विवाह सम्बन्ध स्वीकृत कर लिया। धूमधाम से व्याह की तैयारियां होने लगीं।

व्याह हो गया, मलयवती श्वसुर गृह में भेज दी गयी। सास ससुर बड़े प्रसन्न हुए। मलयवती का बड़ा भाई मित्रावसु बीच बीच में जीमूतवाहन के पास चला जाता था, इस प्रकार बड़े आनन्द से इनका समय बीतने लगा।

ये दोनों राजकुमार एक दिन टहलते टहलते समुद्र तीर पर पहुँचे। समुद्र की अविरल उठने वाली तरङ्गों की शोभा देखते देखते ये बड़ी दूर तक चले गये। वहां जीमूतवाहन ने पर्वत की ऊँची चोटी के समान एक श्वेत वर्ण की वस्तु देखी। उन्होंने मित्रावसु को उस चोटी की शोभा देखने के लिये कहा। मित्रावसु ने उस वस्तु को देखा और उन्होंने कहा, यह सर्पों की हड्डियों का ढेर है। पहले गरुड़ नाग लोक में जाकर सर्पों को खाया करते थे, इससे अनेक सर्पों का नाश होता था, छोटे नाग बालक गरुड़ की भयावनी सूरत ही देख कर डर जाते थे, कई गर्भवती स्त्रियों का गरुड़ के भयानक शब्द सुनने से गर्भ पात हो जाता था। इन सब हानियों को दूर करने के लिए

वासुकि ने गरुड़ से परामर्श कर यह प्रबन्ध किया कि प्रतिदिन लाल वस्त्र पहन एक नाग गरुड़ के लिए जाया करे। तब से इसी स्थान पर एक नाग आ जाता है और गरुड़ उसे खा जाते हैं, हड्डियां पड़ी रहती हैं उन्हीं का यह ढेर है। मित्रावसु की बात सुन कर जीमूतवाहन का दयार्द्र हृदय पिघल गया। गरुड़ की कठोर निर्दयता की बात सोच कर वे व्यथित हुए, और नागों की असीम कष्ट की बात से उनका धैर्य जाता रहा। नागों का किस प्रकार उद्धार हो सकता है, इस अमानुषिक कृत्य से गरुड़ कैसे रोके जा सकते हैं—इन्हीं बातों का वे विचार करने लगे। उसी समय सिद्ध-राज के एक अनुचर ने आकर कहा—राजकुमार मित्रावसु को महाराज बुलाते हैं। पिता के आह्वान से मित्रावसु चले गये। जीमूतवाहन वहीं रहे, उन्हें अब अपना कर्त्तव्य निश्चित करने का अवसर मिला। वे बैठकर मन ही मन तर्क वितर्क करने लगे।

राजकुमार ध्यान-मग्न हो बैठे हुए थे, उसी समय किसी स्त्री के रोने के करुण शब्द ने उनका ध्यान-भङ्ग किया। वे उठे और उस स्त्री के पास पहुँचे। वहां जाकर एक नाग स्त्री को रोती देखा। पास जाने पर उन्हें मालूम हुआ कि शङ्खचूड़ नामक नाग की आज वारी है, वही आया है वह अपनी माता का एक ही पुत्र है, माता रो रही है और पुत्र सांसारिक सम्बन्ध तथा सांसारिक भावों की अनित्यता समझा रहा है। जीमूतवाहन उनके पास गये और उन्होंने कहा—आप के पुत्र के बदले मैं स्वयं गरुड़ का आहार बनूंगा, कृपाकर आप अपने पुत्र को लेकर घर जायँ। पर जीमूत-

वाहन का प्रस्ताव किसी ने भी स्वीकार न किया, न तो पुत्र ही को यह बात अच्छी लगी और न माता ही को। जीमूतवाहन ने पुत्र से उसके लाल कपड़े मांगें पर वह देने को राज़ी न हुआ, यहां तक कि वह वहां से दूसरी जगह चला गया। उसी समय एक मनुष्य जीमूतवाहन को ढूंढता हुआ वहां पहुँचा। उसे महारानी ने भेजा था। उसके पास लाल वस्त्र था। जीमूतवाहन ने उसे लेकर पहन लिया और वह गरुड़ के आने की प्रतीक्षा करने लगे।

शङ्खचूड अपनी माता को समझा रहा था, और माता उसे छोड़ती न थी, इस कारण उसे गरुड़ के पास जाने में बिलम्ब हो गया। उसी बीच में गरुड़ आये और उन्होंने राजकुमार को ही अपना भक्ष्य नाग समझा और वे उसे उठा कर वहां से मलय पर्वत पर ले गये। जीमूतवाहन ने मन ही मन समझा कि अब शङ्खचूड के प्राण बच गये, अब कोई बाधा विघ्न नहीं और वे इससे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने मन ही मन प्रार्थना की कि भगवन् भावी जन्म में भी मेरा शरीर इसी तरह किसी दुःखी की प्राणरक्षा के काम में लगे।

गरुड़ ने जीमूतवाहन को एक स्थानपर रख दिया और चोंच मारी, उन्हें मालूम हुआ कि यह भक्ष्य प्रतिदिन के समान नहीं है, उन्होंने भोजन बन्द कर दिया। ध्यान से वे उस सामने पड़ी हुई वस्तु को देखने लगे। उस समय जीमूतवाहन ने गरुड़ से कहा,

शिरामुखैः स्पन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात्वं विरतो गरुत्मन्॥

मेरे शरीर में रक्त वर्तमान है, वह मेरे शरीर की नाड़ियों में बह रहा है, मेरे शरीर में मांस भी वर्तमान है, हे गरुड़, तुम्हारी तृप्ति हो गयी हो यह बात भी मालूम नहीं पड़ती, ऐसी दशा में तुमने भोजन करना क्यों छोड़ दिया।

राजकुमार की बातों से गरुड़ विशेष विस्मित हुए, दूसरे की रक्षा के लिए प्राण देने वाले एक विद्याधर राजपुत्र को देखकर उनके विचार सहसा उलट पलट गये। बड़ी देर तक गरुड़ चुप रहे, मन ही मन इस अद्भुत कार्य की सङ्गति लगा रहे थे, गरुड़ के लिए यह नयी बात थी, अपने लिए दूसरों के प्राण लेने की बात गरुड़ जानते थे, और आज तक वे यही करते आये थे, पर आज उनके सामने एक नया दृश्य उपस्थित हुआ, वे सहसा कुछ बोल न सके।

राजपुत्र को गये देर हो गयी और वे लौटे नहीं यह देख कर उनके पिता माता आदि विस्मित हुए। उन लोगों ने इधर उधर ढुढ़वाना प्रारम्भ किया, पर राजकुमार का कहीं पता न लगा। उनकी चिन्ता धीरे धीरे बढ़ने लगी। उसी समय आकाश से चूड़ा मणि नामका एक गहना गिरा, जो रक्तसे सना था। उसको देखने से विद्याधर राजदम्पती का दुःख और बढ़ गया। पर उनके प्रतिहार ने जब यह कहाकि पासही एक स्थान में प्रतिदिन गरुड़ आते हैं और एक सर्प को मारकर खाते हैं, उसीका यह भूषण होगा, तब राजदम्पती कुछ निश्चिन्त हुए, पर इस बातपर उन्हें पूरापूरा विश्वास न हुआ। चित्त में अनेक प्रकार की चिन्ता तरङ्गें उठती ही रहीं।

इधर शङ्खचूड जब माता को समझा बुझा कर आया तब उसने वध्य शिलापर गरुड़ को न देखा, उसने समझ लिया कि मेरे आने में विलम्ब होने के कारण राजपुत्र ने स्वयं अपने को अर्पित कर दिया। वह आगे चला। रास्ते में उसे राजकुमार के पिता माता मिले, उसने राजकुमार की स्त्री मलयवती को भी विलाप करते देखा। राजा ने उससे अपने राजकुमार के लिए पूछ ताछ की, उसे जितनी बातें मालूम थीं वह सब उसने बतला दीं, राजा, रानी और राजवधू का शोक शंखचूड़ की बातें सुनने से और बढ़ा। वे अब जीमूतवाहन के मिलने से निराश से हो गये। तो भी उन्होंने निश्चित किया कि एक बार पुनः उस स्थान पर देख लिया जाय, यदि वे मिल जायँ, यदि वे जीवित हों तो अच्छा ही है, अन्यथा वहीं चिता बनाकर प्राण त्याग किया जाय। यही निश्चय करके वे शङ्खचूड के साथ चले। साथ में आग भी उन लोगों ने ले ली।

मनुष्य को अपने प्रिय के विषय में जब किसी अशुभ की आशङ्का नहीं रहती, तब वह प्रतिक्षण उसके लिए तरह तरह की आशङ्काएँ किया करता है, प्रतिक्षण उसके सम्बन्ध में बुरी बुरी भावनाएँ करके अस्थिर होता रहता है, पर जब कोई बुरी सूचना मिलती है, जब वह बुरी घटना को अपनी आंखों के सामने देखता है, तब वह भाग्य की अद्भुत गतियों की आशा से मङ्गल की आशा करने लगता है, वह सोचने लगता है कि शायद इस अवस्था में परिवर्तन हो, यह घटना बदल जाय। मनुष्यों के इस अद्भुत हृदय

के भाव के सम्बन्ध में क्या कहा जाय। ऐसे भाव क्यों उठते हैं, क्यों बदलते हैं इन प्रश्नों का उत्तर देना हमारी शक्ति के बाहर की बात है, कोई मनोविज्ञान वेत्ता ही इस प्रश्न का यथोचित समाधान कर सकते हैं। हम तो केवल यही बतला सकते हैं कि मानव हृदय में ऐसे भाव उत्पन्न होते हैं, इसे चाहे कोई आशावाद कहे चाहे अविवेकवाद।

राजकुमार के पिता माता आदि भी इसी मानवी भाव से प्रेरित थे। पहले वे विशेष उद्विग्न थे, शङ्खचूड से जब जीमूतवाहन के सम्बन्ध में भयानक घटना हो जाने की सम्भावना उन्हें मालूम हुई तब वे व्याकुल अवश्य हुए, पर उनके हृदय में आशा बनी रही, गरुड़ के पंजों में गया हुआ भी लौट सकता है इस बात पर उनका पूरा पूरा न सही, पर विश्वास था। इसी कारण उन लोगों ने उस स्थान पर जाकर देख भाल करने का निश्चय किया और विलाप करते गिरते पड़ते ये वहां जाकर उपस्थित हुए।

उस समय नागकुल संहारक प्रबल पराक्रमी गरुड़ की दशा विलक्षण थी। उसके सामने एक नया आदर्श उपस्थित था। आज तक गरुड को अपने लिए अपने पापी पेट के लिए कठिन से कठिन काम कर देने की बात मालूम थी, दूसरों को कष्ट पहुँचा कर यहां तक कि दूसरों के प्राण लेकर भी अपने स्वार्थ की पूर्ति की बात मालूम थी, पर आज उसके सामने नया आदर्श उपस्थित हुआ, आज उसने देखा कि एक बाहरी मनुष्य जिसका इससे कोई सम्बन्ध नहीं कोई स्वार्थ नहीं एक प्राणी की रक्षा के लिए अपने

प्राण समर्पित कर रहा है। इस कार्य ने गरुड़ के सामने प्रकाश का काम किया, इस प्रकाश में उसने अपने कार्यों तथा इस राजकुमार के कार्यों को देखा, उसे अपने कृत्य काले कुरूप और राक्षसी मालूम पड़े, तथा इस नवयुवक के कृत्य उज्ज्वल सुन्दर और दैवी मालूम पड़े। वह ठहर गया, बोला, तुम कौन हो।

राजकुमार ने कहा समय नहीं है, तुम अपना काम करो।

इसी समय गरुड़ ने दूर से कुछ लोगों को आते देखा। वे हा पुत्र, हा वत्स, हा प्राणनाथ, आदि कह कर विलाप कर रहे थे। इस दृश्य ने गरुड़ को और अधीर बना दिया। उसने समुद्र में डूब कर प्राण देने की इच्छा प्रकट की। पर जीमूतवाहन ने रोक दिया। उन्होंने कहा इस पाप के लिए यह प्रायश्चित्त नहीं है, आत्म-हत्या करने से क्या लाभ। तुम प्रतिज्ञा करो कि अब से मैं किसी भी प्राणी को दुःख न पहुँचाऊंगा। गरुड़ ने वैसी ही प्रतिज्ञा की।

राजकुमार के पिता माता उसके पास पहुँचे। उस समय राजकुमार दुखित थे, उनके शरीर से बहुत सा रुधिर बह गया था, इन्द्रियां शिथिल पड़ गयी थीं, शरीर अवश हो गया था, वे बोल न सकते थे, आंखें पथरा रही थीं. पिता माता तथा नव परिणीता बधू ने उनकी यह दशा देखी। वे अधीर हो गये और विलाप करने लगे। उसी समय भगवती गौरी वहां आयीं और अपने कमण्डल जल से राजकुमार को उन्होंने सचेत किया। उस समय आकाश में बादल न थे, पर पुष्प वृष्टि हो रही थी, बूंदें भी पड़ रही थीं

ने कहा, इस घटना से गरुड़ को बड़ा दुःख हुआ है वे अपने किये पर पश्चात्ताप कर रहे हैं, और उन्होंने ही यह अमृत वृष्टि की है जिससे मरे हुए नाग जी उठे हैं तथा वे एक एक करके समुद्र में जा रहे हैं। राजकुमार भी तब तक स्वस्थ हो गये थे, मृत नागों को जीवित होते देख वे भी बड़े प्रसन्न हुए और गरुड को उन्होंने धन्यवाद दिया। उनके पिता माता भी उन्हें सङ्कट मुक्त देख बहुत प्रसन्न हुए, उनकी स्त्री ने तो अपना सर्वस्व ही पाया।

मनुष्य को अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कुछ त्याग करना पड़ता है। यदि आप चाहते हैं कि मेरा यह मनोरथ पूरा हो, मेरे मन की यह बात पूरी हो तो आपको उसके लिए कुछ देना पड़ेगा। जिस वस्तु से इच्छा पूर्ति होती है उसी मूल्य की वस्तु भी देनी पड़ती है। साधारण मिठाई कपड़े की इच्छा कुछ पैसे रुपये देने से ही पूरी हो जाती है। बड़ी बड़ी इच्छाओं के लिए बड़ा त्याग भी करना पड़ता है। यही साधारण नियम है। किसी वस्तु के अभाव मालूम होने पर उसकी प्राप्ति के लिये इच्छा उत्पन्न होती है। जिसको किसी बात की ज़रूरत मालूम होती है वह अपनी उस ज़रूरत को रफ़ा करने की कोशिश करता है और उस ज़रूरत को मिटाने वाली चीज़ के बराबर की वस्तु का त्याग करता है। मनुष्य किसी मनोरथ को पूरा करने के लिए प्रयत्न करता है, किसी के लिए रुपये पैसे खर्चता है, किसी के लिए शरीर को कष्ट देता है, किसी के लिए अपनी इज़्ज़त प्रतिष्ठा खोता है, किसी के लिए प्राणों की बाज़ी लगा देता है, ये सब त्याग ही के अन्तर्गत

हैं और इसी त्याग से उसकी इच्छा की पूर्ति होती है, उसके मनोरथ सिद्ध होते हैं।

आवश्यकता या जरूरत मनुष्य को दुःखी करती है, उस दुःख से उसके मन में यह इच्छा उत्पन्न होती है कि दुःखी रहना ठीक नहीं, इस दुःख को मिटाना चाहिए। इस इच्छा से मनुष्य दुःख को मिटाने का उपाय सोचता है, वह उस वस्तु को ढूँढता है जिससे उसका दुःख दूर हो। इस प्रकार जब उसे उस वस्तु का पता लग जाता है, तब वह उस वस्तु को पाना चाहता है वह कार्य करना चाहता है जिससे वह वस्तु मिले, और वह दुःख दूर हो। एक तकलीफ़ को दूर करने के लिए दूसरी अनेक प्रकार की तकलीफ़ें हम लोग उठाते हैं। दोनों ही तकलीफ़ें हैं, पर भेद इतना है कि एक दुःख रूप से आयी है, उसे भोगना है, और दूसरी तकलीफ़ का परिणाम सुखकारी है और उससे एक तकलीफ़ के दूर होने की सम्भावना है।

यही हम लोगों का क्रम है, इसी क्रम पर हम लोग काम करते हैं। पर ये सब तकलीफ़ें हम क्यों उठाते हैं, साधारण असाधारण, और मुलायम और कठिन सब प्रकार के कार्य करने के लिए हम क्यों तैयार रहते हैं। सिर्फ़ अपने लिए, अपने सुख के लिए, अपने शरीर और अपने मन के लिए, अपने कुटुम्ब परिवार के लिए तथा अपने प्यारे दोस्तों के लिए। तात्पर्य यह कि हमारा त्याग हमारे लिए होता है। हम नौकरी करते हैं रुपये के लिए जिससे हमारे दिन सुख से कटें, हम मालिक की मौक़े बे मौक़े

घुड़कियां सहते हैं पेट के लिए, अच्छे कपड़े और अच्छे भोजन के लिए। हम व्यापार करते हैं, वकालत करते हैं, डाक्टरी करते हैं, अपने लिए, अपने सुख के लिए। हम अपने लड़के को डाक्टरी इसलिए नहीं पढ़ाते हैं कि वह रोगों को दूर करेगा, वह रोगियों को आराम पहुँचावेगा, किन्तु इसलिए डाक्टरी पढ़ाते हैं कि रोगियों की संख्या अधिक है, रोग की यन्त्रणा असह्य होती है, उस असह्य यन्त्रणा को दूर होने की आशा से मनुष्य अधिक से अधिक दे सकता है, और देता है, पर उसी को जो उस यन्त्रणा को दूर करने का विश्वास दिलावे। इस विश्वास दिलाने का सब से उत्तम मार्ग है डाक्टर होना। डाक्टर यदि कहे कि मैं इस रोग को दूर कर देता हूं तो लोग विश्वास करेंगे। यह बात दूसरी है कि उसके द्वारा भी यन्त्रणा दूर न हो, पर सम्भावना है, लोगों को यह बात मालूम है कि डाक्टरी के द्वारा रोग दूर किया जाता है। बस, जनता के इसी विश्वास से लाभ उठाने के लिए हम लोग अपने लड़के को डाक्टरी पढ़ाते हैं। यदि जनता का वह विश्वास उठ जाय या डाक्टर का रोगियों से रुपये पैसे का जो सम्बन्ध है वह उठ जाय तो कोई भी अपने पुत्र को डाक्टरी पढ़ाने का कष्ट न उठावेगा। यही बात औरों के विषय में भी समझना चाहिए। अर्थात् हमारे सब प्रयत्न अपने लिए हैं, दूसरों के लिए नहीं, हम जो तकलीफें उठाते हैं अपने सुख की आशा से, हम तो त्याग करते हैं अपने सुख के लिए। इस दुनिया में स्वके सामने पर की कोई वक्त नहीं।

हम लोगों का मन बुद्धि की सहायता से अभावों का अनुभव करता है। अभाव केवल मानसिक होते हैं अर्थात् मन समझता है कि अमुक वस्तु का अभाव है इसलिए अभाव है, यदि न समझे तो अभाव भी न हो। यही कारण है, कि प्रत्येक मनुष्य को भिन्न भिन्न प्रकार के अभाव का अनुभव होता है। एक वस्तु के न रहने से कोई मनुष्य बहुत ही व्याकुल हो जाता है, उसके बिना वह अपना जीवन दुखी समझता है, पर दूसरा मनुष्य उसी वस्तु को अनावश्यक समझता है अतएव उसको उपेक्षा की दृष्टि से देखता है, उसका होना न होना उसके लिए बराबर होता है। वह वस्तु उसे मिल जाय तो कोई एतराज नहीं, न मिले तो परवाह नहीं। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि हमारी आवश्यकताएं काल्पनिक होती हैं, हम स्वयं अपनी आवश्यकताओं की सृष्टि करते हैं और उन्हीं अपनी बनायी हुई आवश्यकताओं के लिए त्याग करते हैं। हम लोगों की जो आवश्यकताएं समाज के द्वारा अनुमोदित होती हैं उनके लिए हमारा त्याग प्रशंसित समझा जाता है और समाज के द्वारा निन्दित अथवा उपेक्षित आवश्यकताओं के लिए यदि हम त्याग करते हैं तो हम भी निन्दित तथा उपेक्षित होते हैं।

हमारी कतिपय आवश्यकताएं ऐसी हैं जिनका अनुभव हम स्वयं करते हैं। इस अनुभव के लिए हमें किसी बाहरी वस्तु की, बाहरी घटना की आवश्यकता नहीं होती, जैसे भोजन आदि आवश्यक विषयों के अभाव समझने के लिए हमें किसी बाहरी वस्तु की सहायता अपेक्षित नहीं होती, हमें भूख लगी है हमें भोजन

चाहिए इस बात का ज्ञान हमें अनायास हो जाता है, भूख के कारण हमारे शरीर की दशा ऐसी हो जाती है कि हमें अगत्या उसका अनुभव करना पड़ता है, और वह भी बिना किसी बाहरी वस्तु की सहायता के। हम लोगों के कुछ अभाव ऐसे होते हैं जिनका अनुभव बाहरी वस्तुओं की सहायता से होता है, बाज़ार में जाने पर किसी दूकान पर रसगुले देखे, अच्छे ख़ूबसूरत जूते देखे, घड़ियां और छड़ियां देखीं, मोज़े देखे, चित्त चञ्चल हुआ, मन ने कहा तुम्हारे पास तो ये चीज़े नहीं हैं ये तो तुमको ज़रूर चाहिए, प्रयत्न करो कोशिश करो । दूकानदार से उन चीज़ों का दाम माल्कम किया। पता लगा कि वह आसानी से नहीं दिया जा सकता। उसके लिए पृथक् प्रयत्न करना पड़ेगा। इच्छा के सामने रुकावट आयी और वह अधिक प्रबल हुई, प्रयत्न किया जाने लगा, एक सुख के लिए तकलीफ़ें उठायी जाने लगीं एक कांटे को निकालने के लिए दूसरा कांटा ढूंढा जाने लगा। एक वस्तु के अभाव को दूर करने के लिए आपने एक दूसरी वस्तु दी, जो आप के पास थी। हिसाब लगाने से माल्कम पड़ा कि कुछ नफ़ा न हुआ एक गयी, दूसरी आयी, एक का अभाव बना रहा। भेद हुआ केवल समझ में। आपने केवल समझा कि अभाव दूर हुआ।

कभी कभी हम लोगों का मन ऐसी बातों को भी अभाव ही समझता है जिनका सम्बन्ध उससे साक्षात् नहीं होता। कई हृदय ऐसे होते हैं जो दूसरों को दुःखी देखकर स्वयं दुःखी होते हैं, और उस दुःख को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। उसके दुःख दूर करने

के लिए त्याग करते हैं। इस प्रकार के त्यागियों की संख्या संसार में कम नहीं, पर वे सभी त्यागी समान नहीं हैं। बहुत लोग ऐसे हैं जो दूसरों के दुःख दूर करने के लिए त्याग करते हैं पर सीमा के भीतर रह कर। वे उसे परोपकार समझते हैं और अपनी शक्ति के अनुसार उस परोपकार धर्म का अनुष्ठान करते हैं। पर कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो दूसरों के दुःख दूर करने के लिए अपना सर्वस्व लगा देते हैं। वे उस दुःखी मनुष्य के स्थान में अपने को खड़ा कर देते हैं उसके दुःख को अपना दुःख बना लेते हैं और उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं, और कुछ लोग ऐसे होते हैं कि वे दूसरे का दुःख अपना बना लेते हैं सही पर उसके दूर करने का प्रयत्न नहीं करते वे उस दुःख को स्वयं भोगते हैं।

समाज में दूसरों के दुःख के लिए त्याग करने वालों की बड़ी प्रतिष्ठा है, क्योंकि यह उत्कृष्ट त्याग है, इसमें स्वार्थ का लेश नहीं, इसमें "स्व" की गति नहीं, वह भुला दिया गया है, "स्व" की अधिकता ही तो मनुष्यत्व है, "स्व" को भूल जाने वाले देवता हैं, महान् हैं। जिसने अपने को दूसरों के लिए मिटा दिया, उसमें "स्व" का भाव तो ढूंढने से भी न मिलेगा। फिर वह महान् क्यों न समझा जाय, फिर वह देवता समझ कर क्यों न पूजा जाय। ऐसे ही मनुष्य के लिए किसी उर्दू कवि ने कहा है—

फ़िरिश्ता से अच्छा है इन्सान बनना।
मगर इसमें होती है दिक़्क़त ज़ियादह॥

राजकुमार जीमूतवाहन ने जो त्याग किया था वह भी इसी

प्रकार का था, एक दुःखी नाग को देखकर उनका दयालु हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने उसके स्थान पर अपने को खड़ा कर दिया। प्राण देने के लिए वे शंखचूड़ बन गये, उन्होंने गरुड़ के सामने अपने को अर्पित कर दिया, और गरुड़ आवे हम को खाकर चला जाय, शंख चूड़ यहां पहुँचने न पावे, वह इस कार्य में बाधा न दे, इसकी प्रतीक्षा करने लगे। यह कितना बड़ा और अद्भुत त्याग है। इसी त्याग ने जीमूतवाहन को बड़ा बनाया है और उनको अमर किया है।

महाराज शिवि

हाराज शिवि का जन्म चन्द्र वंश में हुआ था। इन के पिता का नाम उशीनर था। वे उशीनर देश के राजा थे। राजा के कारण देश का नाम पड़ा अथवा देश के कारण राजा का नाम उशीनर पड़ा इसका निर्णय करना कठिन है। पर राजा और राज्य दोनों इसी नाम से प्रसिद्ध थे, इस में सन्देह नहीं। उशीनर के पुत्र होने के कारण शिवि को औशीनर भी कहते हैं।

राजा शिवि बड़े धर्मात्मा थे, दयालु थे और वीर थे। धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करते थे। प्रजा से जो धन मिलता था उसे धर्म कार्य में लगाते थे। शत्रु और मित्र सभी के साथ दया का वर्ताव करना राजा अपना प्रधान धर्म समझते थे। यद्यपि ये सदा यज्ञ पूजा में लगे रहते थे पर इस से यह नहीं हुआ था कि इन के राज्य में अव्यवस्था, फैले राजा का राज्य न हो कर राज कर्मचारियों का राज्य हो जाय और इस तरह राजा और प्रजा के बीच में एक मज़बूत दीवार खड़ी हो जाय जो राजा और प्रजा को अलग कर दे। नहीं, यह बात नहीं थी, राजा शिवि के कर्मचारियों को सदा यह बात ध्यान में रखनी पड़ती थी कि राजा की दृष्टि में प्रजा का जितना आदर है, उतना

हम लोगों का नहीं। राजा के उपदेशों से राजकर्मचारी यह समझते रहते थे कि राजा के यहां हमारा महत्व तभी तक है जब तक हम प्रजा को सुखी रखने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार चारो तरफ़ दृष्टि रखने से राजा के राज्य में कहीं गड़बड़ी नहीं थी, कहीं अशान्ति नहीं थी, कहीं अत्याचार नहीं था। राजा शिवि ने अपने राज्य में ऐसी व्यवस्था कर रक्खी थी जिस से बलवान् अपने बल से दुर्बलों की रक्षा करते थे। उनको पीड़ित नहीं करते थे। धनवान् अपने धन का उपयोग दान और धर्म में करते थे। इस प्रकार शिवि के राज्य में रहने वाले प्रजा पशु पक्षी आदि सभी अपने अपने पद के अनुसार सुखी और तृप्त थे।

महाराज शिवि अपने समय के सब राजाओं में प्रधान थे। इन्होंने छोटे मोटे कई यज्ञ किये थे। शिवि के उत्तम गुणों का यश चारो ओर फैल रहा था। इन्द्र को भी शिवि का संवाद मिला। इन्द्र का स्वभाव है कि वह किसी को उत्तम कर्म करते देख नहीं सकता। जो अधिक धार्मिक है, त्यागी है, दानी है, वीर है उन से प्रायः इन्द्र घबड़ाया करता है। तरह तरह से वह उन्हें तंग किया करता है। कठिन कठिन परिस्थितियां उनके सामने उत्पन्न कर देता है, जिनसे घबड़ा कर उन में कई साहस छोड़ बैठते हैं और अपने मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं, उस समय इन्द्र भी बहुत प्रसन्न होता है।

महाराज शिवि के यहां एक यज्ञ प्रारंभ हुआ, शिवि उसी यज्ञ में दीक्षित थे। इन्द्र ने इस अवसर को अपने लिए

अच्छा समझा। इन्द्र ने श्येन (बाज़) पक्षी का रूप धारण कर लिया और अग्नि को कबूतर बनाया, इस तरह स्वांग रच कर ये दोनों देवता एक धर्मात्मा राजा की परीक्षा लेने के लिए चले। शिवि के पास पहुँच कर उन दोनों ने अपना कार्यक्रम बना लिया। कबूतर रूपी अग्नि देव दौड़े हुए शिवि के पास पहुँचे। उनके स्वरूप से ऐसा मालुम होता था, मानों कटक के साथ यमराज ने इन्हीं पर चढ़ाई की है और इन्होंने उस चढ़ाई में गहरी हार खाई है। वह कबूतर राजा के पास जाकर छिपने की मुद्रा दिखाने लगा। उसी समय श्येन रूपी इन्द्र भी वहां उपस्थित हुआ। राजा से श्येन ने कहा—महाराज आप धर्मात्मा राजाओं में सर्वश्रेष्ठ हैं। फिर आप धर्म विरुद्ध कार्य क्यों करते हैं। आपने कृतघ्नों को दान के द्वारा, झूठ बोलने वालों को सत्य के द्वारा और असाधुओं को साधु व्यवहार के द्वारा जीता है। साधारणतः लोग उपकार करने वालों के साथ उपकार करते हैं। पर आपने अपकारियों के साथ भी उपकार किया है। आप अहित करने वालों का भी हित करते हैं, पाप बुद्धि रखने वालों के विषय में भी आप का शुद्ध व्यवहार होता है। आप यद्यपि दोषों को जान सकते हैं पर दोषों को न देख कर गुण ही देखा करते हैं। यह कबूतर मेरा भोजन है। मैं इस समय भूख से पीड़ित हूं। महाराज, लोभ के कारण आप धर्म का हनन न करें, ऐसा करने से आपको धर्म त्याग का दोष लगेगा।

राजा शिवि ने कहा—यह पक्षी तुम से डरा हुआ है, बहुत ही व्याकुल है और प्राण रक्षा की कामना से मेरे पास आया है।

इस प्रकार अभय के लिए आए हुए इस कबूतर का त्याग मेरे समान मनुष्य कैसे कर सकता है। ऐसे शरणार्थियों का त्याग करना सज्जनों के लिए अनुचित है। लोभ द्वेष या भय से जो मनुष्य शरणागत का त्याग करता है उसको ब्रह्म हत्या के समान पाप होता है, यह बुद्धिमानों का कहना है। महा पाप करने वालों के लिए भी शास्त्रों में प्रायश्चित लिखा है, महापाप करनेवालों का उद्धार हो सकता है। पर शरणागत के त्याग करने वाले का प्रायश्चित कहीं नहीं लिखा है उसके उद्धार का कोई उपाय नहीं है। प्राण सब को प्रिय है, तुम हम अपने प्राणों से जितना प्रेम करते हैं उतना ही दूसरे भी करते हैं। इस कारण मृत्यु के भय से डरे हुए मनुष्यों की रक्षा सभी को करनी चाहिये। जन्म मृत्यु जरा रोग आदि से मनुष्य इस संसार सागर में सदा क्लेश पाता रहता है। मृत्यु का नाम सुनते ही वह कांप जाता है। मनुष्य को चाहिये कि वह उन सब बातों को दूर करने का प्रयत्न करे जिनके कारण प्राणियों को शोक हो भय हो अथवा क्रोध हो। "मैं मरूँगा" इस बात के सोचने से मनुष्यों को बहुत कष्ट होता है। उसे मृत्युभय की भयंकरता का ज्ञान है अतएव उसे चाहिये कि दूसरों की भी भयंकर मृत्यु-भय से रक्षा करे।

"यथा हि ते जीवितमात्मनः प्रियं
तथा परेषामपि जीवितं प्रियम्।
संरक्षसे जीवितमात्मनो यथा
तथा परेषामपि रक्ष जीवितम्॥"

जिस प्रकार तुम्हें अपना जीवन प्रिय है, उसी तरह दूसरों को भी अपने जीवन से प्रेम है। जिस प्रकार तुम अपने जीवन की रक्षा करते हो, उसी प्रकार तुम्हें दूसरों के जीवन की भी रक्षा करनी चाहिये। इस कारण मैं इस डरे हुए कबूतर का त्याग नहीं करूँगा। इस विचारे को तुम्हारे हाथ नहीं सौंपूँगा। ऐसी दशा में जो उचित कर्तव्य हो वह शीघ्र कहो।

श्येन ने कहा–महाराज आहार से ही प्राणियों की उत्पत्ति होती है, आहार से ही मनुष्य बढ़ता है और आहार ही से वह जीता है। कठिन से भी कठिन कार्य मनुष्य कर सकता है वह बड़े बड़े कष्टों को उठा कर भी जीवित रह सकता है, पर आहार के बिना उसका जीना असम्भव है। महाराज, यदि आप मेरे इस भक्ष्य को न देंगे तो मेरे प्राण चले जायंगे और मुझे दूसरा जन्म धारण करना पड़ेगा। मेरे मरने से मेरे बाल बच्चे मर जायँगे। महाराज, आप इतने प्राणियों को मार कर एक कबूतर की रक्षा करना चाहते हैं। वह धर्म नहीं जिससे दूसरा धर्म नष्ट हो, धर्म वह है जिसका कहीं विरोध न दीख पड़े, जिससे दूसरे धर्म में बाधा न आवे। विरोधी धर्म में बलवान और निर्बल का विचार किया जाता है। जिधर बलवान् धर्म हो उधर आप निर्णय करें।

राजा ने कहा—श्येन, भयभीत प्राणियों को अभय देने से बढ़ कर कोई दूसरा धर्म नहीं है। हज़ार ब्राह्मणों को अलंकृत कर हज़ार गौ देने और एक भयभीत प्राणी को अभय देना दोनों बराबर है। जो दयालु सब को अभय देता है उसे परलोक में कहीं

कुछ भी भय नहीं होता। सुवर्ण, वस्त्र और गो देने वाले इस संसार में अनेक हैं पर सब प्राणियों का कल्याण करने वाले बहुत ही कम, नहीं के बराबर हैं। बड़े बड़े यज्ञों के भी फल समय पा कर नष्ट हो जाते हैं पर भयभीत को अभय देने के फल का कभी नाश नहीं होता। जिसने तीर्थों में तपस्या की है, तीर्थ सेवा की है, वेदाध्ययन किया है यज्ञ किया है ये सब अभयदाता के तुल्य नहीं हो सकते। जिसने चारों समुद्र तक फैली हुई पृथ्वी का दान किया है और जिसने प्राणियों को अभय दान दिया है इन दोनों में अभय दाता ही श्रेष्ठ है।

अपि त्यजेराज्यमिमं शरीरं वापि दुस्त्यजम्।
न त्विमं भयसं त्रस्तं त्यजे दीनं कपोतकम्॥
यन्ममास्ति शुभं किंचित्तेन जन्मनि जन्मनि।
भवेयमहमार्तानां प्राणिनामार्तिनाशकः॥
नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
प्राणिनां दुःखतप्तानां कामये दुःख नाशनम्॥

इस राज्य को मैं छोड़ सकता हूँ, इस दुस्त्यज शरीर को भी त्याग सकता हूं पर भयभीत इस दीन कबूतर को मैं नहीं छोड़ सकता। मेरा जो थोड़ा बहुत पुण्य है उससे जन्म जन्मान्तर में मैं प्राणियों का दुःख दूर किया करूँ। मैं राज्य नहीं चाहता, स्वर्ग नहीं चाहता और मोक्ष भी नहीं चाहता। दुःख पीड़ित प्राणियों का दुःख दूर करना मैं चाहता हूँ।

यदि मैंने यह बात सच कही हो तो उससे भगवान महेश्वर

मुझ पर प्रसन्न हों। श्येन, तुम्हें तो भोजन ही न चाहिये ? उसके लिए मैं उपाय करता हूँ, मैं तुम्हें भोजन देता हूँ।

श्येन बोला—राजन् भाग्य से जो यह कबूतर मेरे आहार के लिए मिल गया है कृपा कर आप उसे ही दीजिये, मुझे दूसरे आहारों से क्या मतलब है। श्येन कबूतर खाया करते हैं यह बात तो सदा से प्रसिद्ध चली आती है, आप यह सब क्या कह रहे हैं, आप की ये बातें केले के पेड़ को मज़बूत समझ कर उस पर चढ़ने के समान हैं।

राजा बोले—श्येन, मैं कुशास्त्रों के उपदेशों को कभी नहीं मानता, मैं उन उपदेशों के अनुसार वर्तना उचित नहीं समझता। मैंने तुम्हें जिस धर्म का उपदेश दिया है वह शास्त्र सम्मत है। मैंने सत्य और दया के अधीन हो कर ही यह उपदेश तुम्हें दिया है। सब प्राणियों को दान देना और उनपर दया दिखाना ही श्रेष्ठ है। समस्त वेद, समस्त यज्ञ और सब तीर्थों के स्नान का जो परिणाम है वही एक प्राणी पर दया करने का परिणाम है। जो वचन, मन और कर्मों के द्वारा सदा सब प्राणियों के कल्याण में लगे रहते हैं वे दया का मार्ग दिखलाते हैं और ब्रह्म लोक में जाते हैं। जिसके समस्त प्रयत्न प्राणियों के कल्याण के लिये नहीं होते, जो सदा प्राणियों के कल्याण की बातें नहीं सोचते, उनका प्रयत्न और उनका सोचना पशुओं के प्रयत्न और सोचने के तुल्य है। जो मनुष्य जंगम और स्थावर पक्षियों की रक्षा अपने तुल्य करता है वही उत्तम गति का अधिकारी है। शक्ति रहते जो मनुष्य

प्राणिबध की उपेक्षा करे वह नरक का अधिकारी है। श्येन, यह बहुत बड़ा राज्य मैं तुमको दे सकता हूं या कबूतर छोड़ कर और जो कुछ मांगो दे सकता हूं।

श्येन ने कहा—महाराज, यदि आपका कबूतर पर इतना गहरा प्रेम है तो इसके बराबर आप अपने शरीर का मांस दें।

राजा ने कहा—श्येन, मैं यह तुम्हारी बड़ी कृपा समझता हूं। जितना तुम कहते हो उतना मैं अपना मांस देता हूँ। सज्जन मनुष्य अप्रिय बातों के कहने में देर लगाया करते हैं, यह तो मुझे प्रिय है फिर तुमने इस बात के कहने में इतनी देर क्यों की?

यह शरीर बिनाशी है प्रतिक्षण इसका नाश हो रहा है। इस विनाशी शरीर से अविनाशी धर्म अर्जन नहीं करता वह मूर्ख है और वह शोक का पात्र है। यदि प्राणियों के उपकार के लिये इस शरीर का उपयोग न हो तो इसके पालन पोषण से लाभ क्या?

श्येन बोला—महाराज, मैं अधिक मांस नहीं चाहता, इसी कबूतर के बराबर आप अपना मांस तौलकर दें।

राजा बोले—श्येन, मैं वही करूंगा जो तुम कहते हो। इससे कपोत की रक्षा हो जायगी और तुम्हारी भी रक्षा हो जायगी।

यह कहकर राजा अपने शरीर से मांस निकाल निकाल कर पलड़े पर प्रसन्नतापूर्वक रखने लगे। सज्जन मनुष्य दूसरों के दुःख से दुःखी हुआ करते हैं। वे सदा सब प्राणियों का सुख चाहते हैं। वे न तो अपने लिए किसी फल की इच्छा रखते हैं न भोग की। राजा अपना मांस पलड़े पर रखते जाते हैं पर वह कबूतर

के बराबर नहीं होता। राजा ने पुनः अपना मांस रक्खा पर वह कबूतर के बराबर नहीं हुआ। राजा ने जब देखा कि अब मेरे शरीर में मांस नहीं है तब वह स्वयं उसपर बैठ गए। दूसरों के दुःख से दुःखी होने वाले और सदा दूसरों के कल्याण की कामना करने वाले महान् पुरुष अपने बड़े बड़े सुखों को भी त्याग देते हैं। जब राजा शिवि स्वयं पलड़ेपर चढ़ गये, तब देवताओं की दुन्दुभि बजने लगी, आकाश से पुष्प वृष्टि होने लगी। इस प्रकार धर्म में राजा की दृढ़ भक्ति देख कर इन्द्र अपने रूप में प्रकट हुए और उन्होंने कहा—मैं इन्द्र हूँ, आपका कल्याण हो, यह कबूतर अग्नि हैं। हम दोनों आप को जानने के लिये इस यज्ञ में आए थे। महाराज, अनुपम दयालु आप ने जो कठिन काम आज किया है वैसा पहले के राजाओं ने नहीं किया था और आगे वाले भी नहीं करेंगे। दूसरे के लिये प्राण त्याग करने में आपने जैसी प्रसन्नता प्रकट की है, वह प्रसन्नता दूसरी जगह नहीं पायी गयी। दूसरों के कल्याण के लिये सदा तत्पर और अपने कल्याण के लिए पराङ्मुख आप में ही महाराज वह दया उत्पन्न हुई है। यह समूचा जगत् अपने कर्म पाश से सदा बद्ध है, पर आप जगत् के दुःख दूर करने के लिये दया से बंधे हुए हैं। महाराज आपने समस्त दोषों का नाश किया है। आप में वासना भी नहीं है। अपने से बड़ों के विषय में ईर्ष्या न रखकर अपने से छोटों का तिरस्कार न कर और अपने समान मनुष्यों से स्पर्द्धा न कर आप सर्वोत्तम हो गए। जो मनुष्य अपने प्राणों से दूसरे की रक्षा

करता है उसे परमधाम प्राप्त होता है और वह पुनः वहां से नहीं लौटता। रक्षा आपने प्राणों से की है, आप ने अपने मांस भी दिये हैं, और वस्तुओं की तो बात ही क्या है। पशु भी अपना पेट पालते हैं और वे जीते हैं पर जीना तो उसका प्रशंसनीय है जो दूसरों के लिये जीता है, सज्जन मनुष्य दूसरों के कल्याण के लिये सदा तत्पर रहते हैं। चन्दन वन अपने शरीर को शीतल करने के लिये नहीं होते किन्तु वे दूसरों को शीतल करते हैं। जो मनुष्य सदा परोपकार का व्यापार करता है उसे वह पद मिलता है जो बड़े से भी बड़ा है। अपने सुख की ओर ध्यान न देकर केवल परोपकार में बुद्धि रखने वाले आपके समान सज्जन मनुष्य जगत् के कल्याण के लिये उत्पन्न होते हैं। वे जगत् के लिये आदर्श हैं। महाराज, प्राणी रक्षा के लिये आपने जो अपना मांस निकाल कर दिया है यह आपका यश सदा गाया जायगा, दिव्य शरीर धारण कर आप बहुत दिन तक पृथ्वी पालन करें तदनन्तर सब लोकों को अति क्रमण कर ब्रह्मलोक को जायँ।

यह कहकर इन्द्र और अग्नि देवलोक लौट गए, राजा ने भी प्रसन्नता पूर्वक यज्ञ समाप्त किया।

(२)

शिवि वाली घटना बहुत पुरानी है, आज शिवि की प्रकृति के लोगों का नितान्त अभाव है, भूखों को भरपेट भोजन देना भी इस समय के लोगों के लिए कठिन हो रहा है, आजकल के राजा प्रजा को अपने ऐश आराम की सामग्री एकत्र करने वाली एक

निर्जीव वस्तु समझते हैं। अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए देश के देशको शान्ति के नाम पर भूंज देना आसान होगया है, अपने पेटके लिए दूसरोंकी थाली खींच लेना नीति होगयी है, आज राजा लोग प्रजा को अपने स्वार्थों के लिए, अपने राज्यविस्तार के लिए बेरहमी से कटवाते हैं, भर पेट भोजन भी नहीं देते उनका हक़ भी नहीं देते, फिर दया की बात तो दूर रही। ऐसे समय में भला शिवि की घटना का क्या महत्व! असतियोंके महल्ले में रोंगटे खड़ी करनेवाली सतियों की जीवन घटनाएं बनावटी समझी जाती हैं, वे काल्पनिक समझी जाती हैं। उस महल्ले से सम्बन्ध रखने वाले सतियों की जीवन घटनाओं को असम्भव समझते हैं। क्योंकि उनका आदर्श भिन्न हैं, उन की विचार शैली भिन्न है। यही बात आज शिवि के सम्बन्ध में भी है। अपने को देवता से बढ़कर समझने वाला आज का राजा भला शिवि के सर्वात्मवाद को क्या समझेगा, इस जातीय भेदभाव के ज़माने में शिवि के अभेदभाव के उपदेशों का क्या महत्व होगा। कोई इसे पौराणिक गाथा बतलावेगा कोई इसे औपन्यासिक कल्पना समझेगा। पर इन बातों से हम भयभीत नहीं, और न लज्जित ही हैं। हम शिवि की घटनाओं को काल्पनिक नहीं समझते, हम राजा का यही आदर्श समझते हैं। यहां हानि लाभ का प्रश्न नहीं है, सम्भव है व्यापारिक बुद्धि को महत्व देने वाले शिवि के कार्य की निन्दा करें, वे कहें कि राजा का शरीर पवित्र और उपयोगी है, एक कबूतर के लिए अपने प्राणों को त्यागने के लिए तैयार हो जाना राजा की मूर्खता है। पर हम

लोगों का ऐसा विचार नहीं है। यहां उपयोगिता पवित्रता तथा हानि लाभ का विचार ही नहीं है। विचार है कर्तव्य पालन का, विचार है अपने उत्तम मानसिक भावों के लिए त्याग का। अपने आश्रितों की रक्षा करना राजा का प्रधान कर्तव्य है, मनुष्यों का कर्तव्य है कि वे अपने मानसिक उत्तम भावों की पूर्ति के लिए अधिक से अधिक त्याग करें। शिवि राजा थे, शिवि मनुष्य थे। कबूतर भी उनका आश्रित था वह भी उन के राज्य में रहता था, उस की भी रक्षा करना राजा का धर्म था। उस रक्षा के लिए राजा को कितना त्याग करना चाहिये इस का कहीं नियम नहीं कहीं व्यवस्था नहीं। अतएव राजा कबूतर की रक्षा करेंगे। उस की रक्षा के लिए जो कुछ करना पड़े वह सब राजा करेंगे। अधिक से अधिक कष्ट उठाना पड़े अधिक से अधिक त्याग करना पड़े सब के लिए तैयार हैं क्योंकि वे वीर हैं। स्वार्थ त्याग के भय से कर्तव्य से विमुख होना कायरों का काम है, यह बुद्धिमानी नहीं, नीचता है, स्वार्थ का विकट अट्टहास है, मनुष्यता का उपहास है। राजा शिवि मनुष्य थे, पीड़ित को देख कर उन के हृदय में दया आयी। वह दया कहती थी कि कबूतर की रक्षा करो, उस रक्षा के लिए अधिक से अधिक त्याग कर शिवि ने अपनी दया की आज्ञा का पालन किया।

यही उत्तम आदर्श शिवि की घटना से हमें मिलता है।

भगवान बुद्धदेव

रु पांडव युद्ध होने के बाद इस भारत की बुरी दशा हो गयी थी। उस युद्ध ने समस्त प्रभावशाली राजाओं का नाश कर दिया था। अपराधियों को दण्ड देने की कोई व्यवस्था नहीं थी, उचित और अनुचित का विचार करने वाला कोई नेता नहीं था। धार्मिक और नैतिक नेताओं के अभाव से प्रजा मन माने आचरण करने लगी। धर्म की मर्यादा नष्ट हुई, दया की बड़ी दुर्दशा हुई। कौन किसकी रक्षा करे, कौन किसको समझावे। गढ़े में स्वयं गिरता हुआ मनुष्य दूसरे की क्या रक्षा कर सकता है। यही दशा उस समय भारतवासियों की थी। विद्या, धन और बल नष्ट हो रहे थे। लोगों के सामने कोई आदर्श नहीं था।

उन्हीं दिनों में जो कुछ प्रभावशाली राजा बच गए थे उनमें शिशुनागवंशी राजा भी थे। राजा शिशुनाग की चौथी पीढ़ी में राजा शुद्धोधन हुए। कपिलवस्तु नामक नगर उनकी राजधानी थी। भगवान बुद्धदेव इन्हीं राजा शुद्धोधन के पुत्र थे। ईस्वी सन् से ५५८ वर्ष पहले भगवान बुद्धदेव का जन्म हुआ था।

यह बात कही जा चुकी है कि जिस समय भगवान बुद्धदेव का जन्म हुआ था उस समय भारत के क्षात्र तेज का नाश हो

चुका था। छोटी मोटी शक्तियां अपनी अपनी परिमित प्रभा प्रकाशित करने का प्रयत्न करतीं थीं। पर इनके किये कुछ होता नहीं था लोगों में अराजकता के विचार फैल रहे थे। ब्राह्मण पुरोहितों ने भी अपना स्वरुप भुला दिया था। यज्ञ के बहाने खुल कर हिंसा की जाती थी। यज्ञ में मारे जाने से स्वर्ग मिलता है इस बात को वे शास्त्रीय प्रमाणों के द्वारा प्रमाणित करके हिंसा को ही प्रधान धर्म मानते थे। अन्य वर्णों ने भी अपने गुरु ब्राह्मणों का अनुसरण किया। इस प्रकार स्वेच्छा से धर्म की व्यवस्था करने वालों की भारतवर्ष में प्रधानता हुई। दुर्बल पशुओं के चीत्कार से भारत का घर घर गूँजने लगा, ख़ून की धारा बहने लगी। पर किसी भी मनुष्य नाम धारी व्यक्ति के हृदय में दया भाव का सञ्चार न हुआ। पर दुर्बलों का चीत्कार व्यर्थ नहीं जाता, मनुष्य न सुनना चाहे न सुने, भगवान तो सुनते हैं और उसका प्रतीकार भी करते हैं। अन्त में इन पशुओं का चीत्कार भगवान के कानों तक पहुँचा। जिसके फल स्वरूप भगवान बुद्ध देव का आविर्भाव हुआ।

(२)

उत्तर भारत में कपिलवस्तु नामक नगर है। वहां के राजा शुद्धोदन बड़े पुण्यात्मा और प्रजा हितकारी थे। उनकी महारानी का नाम मायादेवी था। वे रूपवती, गुणवती और शीलवती थीं। राजा शुद्धोदन ऐसी योग्य महरानी पाकर अपने को धन्य समझते थे।

वे वैभव, बल, रूप और यश से लोक पालों के समान थे। फिर भी उनके मन में शान्ति नहीं थी, वे अपने को सुखी नहीं समझते थे। उनकी आज्ञा मानने वाले केवल दास दासी ही नहीं थे किन्तु कई राजा भी थे। तथापि उनका हृदय तपे हुए शीशे के समान खौलता रहता था। राजा की इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए सामन्त गण तथा उनके हित मित्र सदा तैयार रहते थे। फिर भी राजा का मन कहीं नहीं लगता था। संसार में सुख की जो सामग्रियाँ समझी जाती हैं वे सभी राजा शुद्धोधन के पास थीं। यदि किसी बात की कमी थी तो यही कि उनके पुत्र न था। इस एक अभाव के कारण राजा हमेशा दुखी रहा करते थे।

एक दिन महारानी मायादेवी ने स्वप्न में अपने पेट में एक हाथी को प्रवेश करते देखा। प्रातःकाल उठ कर उन्होंने स्वप्न की बात राजा से कही। राजा उस स्वप्न को सुनकर डर गए और फल जानने तथा उसकी शान्ति के लिए ज्योतिषियों को उन्होंने बुलाया। ज्योतिषियों ने विचार कर राजा से कहा—महाराज यह स्वप्न भावी मंगल का सूचक है। बहुत शीघ्र ही महराज चक्रवर्त्ति पुत्र पावेंगे। ज्योतिषियों की बात से राजा बहुत प्रसन्न हुए।

कुछ दिनों के पश्चात रानी के शरीर में गर्भ के लक्षण प्रकाशित होने लगे। यह देखकर राजा प्रसन्न हुए। नगरवासियों ने जब यह खबर सुनी तब वे भी आनन्दोत्सव मनाने लगे। इस प्रकार राजा राजपरिवार तथा प्रजा वर्ग ने कुछ दिनों तक खूब आनंदोत्सव किये। यथा समय पौष की पौर्णिमा के दिन महारानी

ने एक पुत्र उत्पन्न किया। राजभवन मंगल वाद्यों से मुखरित हो उठा। पर हाय ! इस संसार में पूर्ण सुख किसी के भाग्य में बदा नहीं है। पुत्र उत्पन्न होने के पश्चात् महारानी का स्वर्गवास हो गया। राजा का कलेजा हिल उठा। उदय के समय ही शरत् के चन्द्रमा को एक बादल के टुकड़े ने ढक लिया। सद्योजात पुत्र को एक धायी के हाथ सौंप कर राजा ने किसी प्रकार धैर्य धारण किया।

राजा के जिस हृदय में महरानी के लिये प्रेम था उस हृदय में अब पुत्र प्रेम ने स्थान पाया। धायी का नाम गौतमी था। गौतमी ने बालक की रक्षा के लिए सभी तरह के उपाय करना प्रारम्भ किया। विधिपूर्वक बालक का जात कर्म संस्कार किया गया। ग्यारहवें दिन ज्योतिषियों की आज्ञा से राजा ने बालक का नाम सर्वार्थसिद्धि रखा। असित नामक ज्योतिषी ने बहुत कुछ गणित करके राजा से कहा—महाराज बड़ी सावधानी से इस बालक की रक्षा होनी चाहिये क्योंकि इस बालक में चौसठ लक्षण विद्यमान हैं। यह किसी ख़ास उद्देश्य को सिद्ध करने को उत्पन्न हुआ है। युवावस्था में यह संन्यास ग्रहण करेगा ऐसा मालूम होता है। कोई भी राजकीय वैभव इसे फँसा नहीं सकता। पर यदि किसी प्रकार इस का मन सांसारिक विषयों में लगाया जाय और यह राजकीय कामों को करना स्वीकार करे तो निश्चय यह चक्रवर्त्ति होगा, इसमें सन्देह नहीं। ज्योतिषी की बातें सुन कर राजा का मुँह उतर गया, वे चिन्तित हो गये।

प्रथा के अनुसार पांचवें वर्ष सर्वार्थसिद्धि गुरु के यहां पढ़ने

गये। गुरु का नाम श्रोत्रिय विश्वामित्र था। राजाने इन्हीं को योग्य समझ कर इस काम के लिए नियत किया था। गुरु ने पढ़ाना प्रारम्भ किया "अ, आ"। सिद्धार्थ ने कहा "अनित्यः सर्व संसार संबन्धः" "आत्म पर हितं कार्यं" अर्थात् यह समस्त संसार अनित्य है, अपना और दूसरों का हित करना चाहिये। बालक की इस उक्ति से गुरु को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा मैं किसको पढ़ाऊँ यह तो सर्वज्ञ मालूम पड़ता है। क्या इसने गर्भ में ही सब विद्याएँ सीख ली हैं। गुरु इन सब बातों को सोच ही रहे थे कि इतने में बालक ने कहा उपाध्याय जी आप कौन सी लिपि मुझे पढ़ाना चाहते हैं। इस बात को सुनकर उनको और आश्चर्य हुआ, उन्होंने बालक से हाथ जोड़ कर कहा—महाराज कोई सर्वज्ञ भी आपको नहीं पढ़ा सकता मैं तो कौन चीज हूँ। गुरु की आज्ञा पाकर बालक सिद्धार्थ घर लौट आया।

(३)

धीरे धीरे सिद्धार्थ ने युवावस्था में प्रवेश किया। यौवन की शोभा उनके प्रत्येक अंग से प्रकाशित होने लगी। सिद्धार्थ राज पुत्र हैं, राजपुत्रों का मन स्वभाव से ही उछल कूद विलास आदि को अधिक पसन्द करता है। पर सिद्धार्थ में राज पुत्रों के ये लक्षण नहीं दिखाई पड़ते थे। इसी से ज्योतिषी की बात राजा स्मरण करके दुखी रहा करते थे। संसार की ओर उनका मन खिंच आवे इसके लिये वे तरह तरह का उपाय किया करते थे। पर फल कुछ न होता था। अन्त में सिद्धार्थ का ब्याह कर देना ही

निश्चय किया। राजपुत्रों के लिये कन्याओं की कमी नहीं होती। राजा की आज्ञा से अनेक कन्याएँ सिद्धार्थ के सामने लायी गईं। सिद्धार्थ ने गोपा नाम की एक राजकन्या को अपने योग्य समझा। गोपा रूपवती, गुणवती और शीलवती थी। उत्तम मुहूर्त में गोपा के साथ सिद्धार्थ का व्याह हुआ।

सांसारिक विषयों में सिद्धार्थ के मन को लगाने के लिये राजा ने अनेक उपाय किये। एक नया भवन बनवाया गया, अनेक देशों की उत्तम वस्तुओं से वह भवन सजाया गया, तरह तरह की विलास की सामग्रियां रखी गईं। एक नैसर्गिक संन्यासी को बांधने के लिये सोने की रस्सी तैयार की गई। राजकुमार की सेवा के लिए सुन्दर स्त्रियां नियुक्त की गईं, जहां कहीं सुन्दरी स्त्री के होने का पता मिलता, वहां से वह राजकुमार की सेवा में नियुक्त की जाती थीं। राजा के प्रयत्न से बनाई गई इस सोने की रस्सी को सिद्धार्थ शीघ्र नहीं तोड़ सके। उन्होंने भी कुछ दिनों तक आनन्द से समय बिताया।

अधिक भोजन करने से भी अजीर्ण रोग होता है। अधिक मीठा भी नहीं खाया जाता और अधिक मीठा खाने से पेट में कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। विलास में पड़े हुए सिद्धार्थ का भी मन ऊब उठा। उन्होंने बाहर घूमने जाने की इच्छा की। राजा से आज्ञा मांगी गयी। राजा ने आज्ञा देकर राजकुमार के बाहर जाने की व्यवस्था कर दी। राजकुमार बाहर आवेंगे और हम लोग उन का दर्शन करेगें इस से लोग बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने

अपने घर सजाए। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही राजकुमार के लिये रथ लाया गया। सिद्धार्थ बाहर घूमने गये। चारो ओर उन के जयजयकार से नगर गूंज गया। देवताओं को प्रणाम करते, बड़ों का आशीर्वाद ग्रहण करते प्रसन्न चित्त से सिद्धार्थ नगर भ्रमण करने लगे।

इस प्रकार घूमते घामते दो पहर हो गया। सूर्य आकाश के मध्य में आकर संसार को तपाने लगे। सिद्धार्थ की आज्ञा से घर आने के लिए रथ लौटाया गया। राजकुमार घर लौटे आ रहे थे, रास्ते में उन्होंने एक वृद्ध को देखा। उस के अंग प्रत्यंग शिथिल हो गये थे, अन्न के बिना शरीर सूख गया था। वह लाठी के सहारे घूम कर भिक्षा मांग रहा था। वह सिद्धार्थ के पास भी आया। उसे देख उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने सारथी छन्दक से उन्होंने पूछा यह कौन है।

छन्दक—महाराज यह एक वृद्ध है।

कुमार—इस की ऐसी दुर्दशा क्यों हो रही है।

छन्दक—वृद्धावस्था के कारण यह चल नहीं सकता और दरिद्र भी है। भिक्षा ही से इसकी वृत्ति चलती है।

कुमार—यह बूढ़ा क्यों हुआ ?

छन्दक—महाराज! क्या केवल यही एक बूढ़ा हुआ है। सभी बूढ़े होते हैं।

कुमार—क्या मैं भी बूढ़ा हूंगा? क्या गोपा भी वृद्धा होगी. क्या हम लोगों का स्वरूप भी ऐसा ही हो जायगा ?

छन्दक—और क्या।

इस बात को सुन कर सिद्धार्थ का मन कांप गया। मानव शरीर की होने वाली दुरवस्था राक्षसी के समान मुंह फाड़ कर उन के सामने ताण्डव नृत्य करने लगी। भिक्षा लेकर और कुमार को आशीर्वाद दे कर वह बूढ़ा भी चला गया। पर कुमार का मन उस समय दूसरी ओर था।

थोड़ी दूर जाकर उन्होंने एक और मनुष्य को देखा। वह था तो युवा पर उसकी थी बड़ी दुर्दशा। उसकी आंखें भीतर घुस गई थीं। रोग से उसका शरीर जीर्ण शीर्ण हो गया था। वह एक पैर भी न चल सकता था। वह उठनेका प्रयत्न करता था पर लड़-खड़ा कर गिर पड़ता था। उसे देख कर सिद्धार्थ के मन में बड़ी दया आई। उन्होंने सारथि से कहा छन्दक यह कौन है? जवान सा मालूम पड़ता है पर इस की दशा बड़ी ही दीन है।

छन्दक—यह रोगी है। यौवन में रोग के द्वारा यह वृद्ध बना दिया गया है। रोग से शरीर की सारी सुन्दरता नष्ट हो जाती है।

कुमार—जो रोग इस को हुआ है क्या वह रोग मुझ को भी हो सकता है?

छन्दक—कुमार! शरीर रोगों का घर है, कोई भी शरीर धारी क्यों न हो उसे रोग होते ही हैं।

छन्दक की बात सुन कर सिद्धार्थ बहुत दुखी हुए। उन्होंने सोचा यहां सुख ही क्या है। वृद्धावस्था और रोग के द्वारा जब

सब का शरीर निकम्मा बनाया जा सकता है तब शरीर से होने वाले सुखों के लिए कौन विद्वान मूर्खता पूर्ण प्रयत्न करेगा? सिद्धार्थ यही सोचते हुए आगे चले। उन्होंने एक और नई वस्तु देखी। कपड़े से लपेटी हुई कोई चीज़ कन्धे पर रख कर चार आदमी रोते हुए लेते जा रहे हैं। यह देख कर सिद्धार्थ ने पूछा —यह क्या है और यह क्यों रोते हैं?

छन्दक—शव लेकर जा रहे हैं। जो मरा है वह इनका बन्धु है अतएव ये रो रहे हैं।

कुमार—शव किस को कहते हैं?

छन्दक—प्राण रहित शरीर को शव कहते हैं। शव में चेतना नहीं रहती और अभिलाषा भी नहीं रहती। जब प्राण शरीर को छोड़ कर चले जाते हैं तब उस शरीर को लोग श्मशान में ले जाते हैं, वहां उसे जला देते हैं, बहा देते हैं या ज़मीन में गाड़ देते हैं।

कुमार—क्या सभी मरते हैं?

छन्दक—प्राणियों की मृत्यु निश्चित है। कोई भी मृत्यु से बच नहीं सकता।

कुमार—यदि ऐसी बात है तो जीवन को क्षणभङ्गुर कहना चाहिये। फिर राज्य की क्या आवश्यकता है, ऐश्वर्य भी क्या काम आयेगा। नष्ट होने वाले पदार्थों पर प्रेम करना विद्वानों का काम नहीं।

छन्दक की बातें सुनकर कुमार का मन व्याकुल हो गया। वे अपने लिये कोई भी मार्ग निश्चित न कर सके। उसी समय उन्होंने एक महा पुरुष को देखा। उसका लोकोत्तर रूप देखकर कुमार बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने छन्दक से पूछा यह कौन है। छन्दक ने कहा महराज ये संन्यासी हैं, इन्होंने संसार का त्याग किया है। संसार अनित्य है इसलिए इन्होंने इसका त्याग किया है। यह केवल लोगों का कल्याण किया करते हैं। यह वही करते हैं, वही सोचते हैं, वही बोलते हैं, वही उपदेश करते हैं जिससे लोगों का कल्याण हो। छन्दक की बातों से कुमार बड़े आनन्दित हुए उन्होंने कहा मैंने जान लिया जो जानना था। मनुष्यों का क्या कर्तव्य है यह मैंने आज जान लिया। उसका जीना व्यर्थ है, जिसने अपना और दूसरों का कल्याण नहीं किया।

लौटकर कुमार सिद्धार्थ अपने घर में गये पर इस घर को देख कर उन्हें आनन्द नहीं आया। उनकी प्रिया गोपा भी आयी पर वह भी अच्छी नहीं लगी। आज अपनी पुरानी चीज़ को देख कर कुमार को कष्ट हो रहा है। कुमार ने गोपा की ओर आंख उठा कर भी नहीं देखा, अतएव गोपा भी उनकी ओर न गयी। सोने की रस्सी तोड़ने का यह पहला प्रयत्न था।

(४)

तब से सिद्धार्थ का मन किसी भी विषय में नहीं लगने लगा। वे सदा अपना कर्तव्य करने के लिये उत्कण्ठित रहा करते थे। इसी प्रकार कुछ दिन बीत गये। गोपा ने एक पुत्र उत्पन्न किया

जिसे देखकर सिद्धार्थ का हृदय कांप गया। उन्होंने सोचा कि इन्हीं उपायों से संसार बंधन दृढ़ किया जाता है। बहुत सोच विचार कर कुमार ने संसार त्याग करना निश्चय किया।

आधी रात थी सब लोग सो गये थे। कुमार सिद्धार्थ घर छोड़ कर जाने के लिए तैयार थे। उस समय उन्होंने निश्चय किया कि जाने के समय एक बार गोपा को अवश्य देख लेना चाहिए। उस समय गोपा सो रही थी उसके पास ही बगल में बालक सोता था। कुमार ने उनको देखा। उनका मन व्याकुल हुआ। एक स्वाभाविक प्रेम का दृश्य उन्हें निश्चित मार्ग से हटाने के लिए सामने आया। सिद्धार्थ चौंक गए सहसा वहां से निकल कर वन में चले गये। किसी को खबर भी न हुई कि सिद्धार्थ कहां है, क्यों गए और कहां गए।

(५)

प्रातःकाल हो रहा था, उसी समय एक स्वप्न देख कर गोपा बहुत भयभीत हुई। वह चीत्कार कर उठी, दौड़ी हुई दासियां पहुँच गईं। गोपा ने उनसे कहा कुमार को शीघ्र बुला लाओ। उन लोगों ने घर में चारो ओर ढूढ़ा पर राजकुमार का कहीं पता नहीं। कुमार कहीं चले गये यह बात चारोओर फैल गयी। दासियों के द्वारा राजा को भी यह बात मालुम हुई। कुमार को ढूँढ़ने के लिये उन्होंने नौकरों को भेजा; नगरवासी भी उनके साथ गये। उन लोगों ने चारो तरफ़ खूब ढूँढ़ा पर कुछ पता न लगा। वे लौट

आये। सिद्धार्थ के समान पुत्र के खो जाने से राजा शुद्धोधन के हृदय में कितना कष्ट हुआ होगा उसका अनुमान करना सहज है।

(६)

घर से निकल कर सिद्धार्थ बन बन घूम कर शाश्वत सुख को ढूँढ़ने लगे। घूमते घूमते उद्‌र्क नामक एक विद्वान् के पास ये गए। वहां कुछ दिनों रहकर अलर्क नाम के एक श्रोत्रिय के यहां गये और रहने लगे। इन दोनों पण्डितों से शास्त्रों का अध्ययन किया। पर इन्हें शान्ति न मिली इससे वे बड़े दुखी हुए और वहां से राजगृह नामक नगर में चले आये।

उस समय राजगृह में रुद्रक नाम के एक ऋषि रहते थे। सिद्धार्थ उन्हीं के शिष्य हो गये और योग की समस्त क्रियायें इन्होंने सीखीं। योग का ज्ञान पूरा हो जाने पर गुरु की आज्ञा से उरुविम्ब नामक नगर में आकर सिद्धार्थ तपस्या करने लगे। यहीं उन्होंने पांच शिष्य भी किये। पांचों शिष्यों के साथ सिद्धार्थ गया में आए। वहां एक पीपल वृक्ष के नीचे समाधि लगा कर बैठ गये। शिष्यों ने उनके शरीर की रक्षा की। इस प्रकार छः वर्ष बीत गये पर उनकी समाधि भंग न हुई। उनके समाधिस्थ होने की खबर आस पास के नगरों में फैल गयी। लोग उनके दर्शनों के लिये आने लगे। समाधिस्थ सिद्धार्थ महादेव के समान मालूम पड़ते थे।

छः वर्ष बीतने पर सिद्धार्थ ने समाधि-विसर्जन किया। उस समय इ । का शरीर बहुत दुर्बल हो गया था। अस्थि और चर्म

के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह गया था। एक दिन ये किसी कार्य वश नदी तीर गये। पर बल न रहने के कारण बेहोश होकर गिर पड़े। सुजाता नाम की एक स्त्री ने सिद्धार्थ की यह दशा देखी और घर से खीर लाकर किसी प्रकार उन्हें खिलाकर सुस्थ किया।

सिद्धार्थ ने पुनः समाधि लगायी और कई वर्षों तक वे उसी प्रकार समाधि निरत रहे। कुछ दिनों तक सिद्धार्थ का यह समाधि क्रम जारी रहा। इस प्रकार अनेक समाधियों के द्वारा सिद्धार्थ ने आत्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया। वैशाख की पूर्णिमा को उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ। तब से ये बुद्ध नाम से प्रसिद्ध हुए। उस समय तक साठ शिष्य इन के हो चुके थे। उन्हीं साठों शिष्यों को साथ लेकर भगवान बुद्ध पृथ्वी परिभ्रमण करने लगे।

उस समय भारतवासियों का हृदय शास्त्र ज्ञान से बिलकुल शून्य था। वे शास्त्रोपदेश सुनना भी नहीं चाहते थे। पर बुद्धदेव ने अपना कार्य क्रम जारी रखा। बुद्ध समस्त भारत में घूम कर अपना उपदेश करने लगे। धीरे धीरे भारतवासियों के हृदय में बुद्ध के उपदेश घर करने लगे। बुद्ध ने कहा धर्म के बाह्य लक्षणों की आवश्यकता नहीं। दान तथा पशु हिंसा के द्वारा धर्मानुष्ठान नहीं किया जा सकता। धर्म के आठ लक्षण हैं सद्दृष्टि, सत्संकल्प, सद्वाक्य, सद्व्यवहार, सदुपायों से जीविका अर्जन करना, सच्चेष्टा, सत्स्मृति, और सम्यक् समाधि। बुद्ध के बतलाये धर्म के ये आठ लक्षण हैं। "अहिंसा परमोधर्मः" यह बुद्ध का मुख्य

उपदेश था। बुद्ध के अनुयायी वैदिक धर्म को नहीं मानते। वे वेदों को अनित्य और उन के उपदेशों को भ्रम पूर्ण बतलाते हैं। वे कहते हैं कि देवता की उपासना से मुक्ति नहीं होती, ईश्वर भी कर्म के अधीन है। परोपकार और अहिंसा ये ही धर्म हैं।

भारतवासी बुद्ध के चलाये हुए नए धर्म को ग्रहण करने लगे। कई राजाओं ने भी अपने पितृ पितामह स्वीकृत धर्म का त्याग कर के बुद्ध के नए धर्म को ग्रहण किया। राजा के साथ प्रजाओं ने भी बुद्ध धर्म ग्रहण करना उचित समझा। वर्ण भेद नष्ट हुआ।

पिता को देखने की इच्छा से बुद्ध देव पुनः कपिलवस्तु नगर में गए। सिद्धार्थ आ रहे हैं यह सुन के नगरवासी बहुत प्रसन्न हुए, बुद्ध ने नगर में प्रवेश किया। पुरवासियों ने उन को संन्यासी रूप में देखा। पुत्र को उस रूप में देख कर राजा शुद्धोधन को बड़ा दुख हुआ। गोपा स्वामी को देखकर बेहोश हो गयी। बुद्ध ने कहा तुम मेरी सहधर्मिणी हो। मैंने जो व्रत ग्रहण किया है वह तुम्हें भी ग्रहण करना चाहिए। गोपा ने संन्यास व्रत ग्रहण किया, गहने उतार दिये, और कपड़ों के स्थान में वल्कल वस्त्र धारण किया। गोपा के पुत्र ने भी पिता का धर्म ग्रहण किया। नगर वासिनी अनेक स्त्रियों ने भी संन्यास धर्म धारण किया। गोपा उन सबों की नेत्री बनी। इसी अवसर में राजा शुद्धोधन का परलोक वास हो गया।

इस प्रकार अपने धर्म का प्रचार करते हुए बुद्ध को ४५ वर्ष बीत गये। उनकी अवस्था भी ८० वर्ष की हो गई। बुद्ध ने अपने कर्तव्य को समाप्त किया। संसार को जो उपदेश देना था वह दे दिया। एक दिन कुशी नगर में अपने शिष्यों को बुलाकर बुद्ध ने कहा अब मेरा काम समाप्त हो गया। तुम लोग नियम का पालन करना और धर्म को मानना। भगवान् बुद्ध का यही अन्तिम उप-देश है। उसी नगर में उन्होंने शरीर त्याग दिया और निर्वाण पदवी पायी।

बुद्ध की विशेषता

इन्द्रियां सभी को होती हैं, सभी देखते सुनते हैं, देखे हुए का अनुभव करते हैं और सुने हुए को समझते हैं। तमाशे की घटनाएं दोस्तों की दलीलें रोज़ देखी और सुनी जाती हैं, पर क्या कभी दु:खियों की आह भी कहीं सुनी जाती है, क्या भूख से तड़प तड़प कर प्राण गवाने वालों का हृदय विदारक दृश्य भी देखा जाता है। ये घटनाएँ होती हैं, आहें भी होती हैं, देखी और सुनी भी जाती होंगी, पर क्या ये आहें ये दु:खमय दृश्य उन कानों और आंखों तक पहुँचती हैं जो शक्तिमान् हैं, जो इन्हें दूर कर सकती हैं? निश्चित रूप से इसका कुछ उत्तर नहीं दिया जा सकता है। शक्तिमान् भी सुनते होंगे और देखते होंगे, पर वह सुनना और देखना कुछ अर्थ नहीं रखता। जिस देखने और सुनने का हृदय पर प्रभाव न पड़ा, दर्द भरी आहें सुन कर उन्हें

दूर करने का उद्योग न किया गया, दुःखमय दृश्य देख कर उसे दूर करने के लिए अधिक से अधिक आत्म त्याग न किया गया, तो वह देखना और सुनना बेकार है, निरर्थक है।

हम लोगों का देखना सुनना इस समय इसी प्रकार का बेकार है। पहले भी वह बेकार था। सभी देखना सुनना नहीं जानते थे, देखने सुनने वाले बहुत कम हुए और जो देखने सुनने वाले हुए वे अमर हो गये, उन्होंने संसार का कल्याण कर दिया संसारवासियों को देखने सुनने का महत्व बतला दिया। देख सुन कर क्या करना चाहिए, इसका उन्होंने उपदेश दिया। भगवान् बुद्ध ने सुना कि नहीं मालूम नहीं, पर देखा, और उसी देखने ने उनका जीवन पलट दिया, उसी देखने से प्रेरित होकर उन्होंने जो किया उससे संसार को एक नयी बात का सन्देशा मिला, उसे देखने की विधि मालूम हुई।

कुमार सिद्धार्थ ने किस कारण राज्य त्याग किया यह बात सबको मालूम है। रोगी भूखा और मृतक इनको सिद्धार्थ ने देखा। उनके हृदय ने पूछा कि क्या हमारी भी यही दशा होगी, संसार की ओर से उत्तर मिला, हां। हृदय व्याकुल हो गया, उसने कहा यह स्थान तो बड़ा ही खतरनाक है, यह स्थान ऐसा नहीं है जहां निर्भय होकर रहा जाय। कुछ उपाय करना चाहिए। सिद्धार्थ ने उपाय सोचना प्रारम्भ किया। पुस्तकों में देखा; किसीने भी कुछ साफ़ साफ़ न बताया इतना आवश्यक विषय और उसका उत्तर न मिले, यह कितने खेद की बात है। दूसरा होता चुप हो

जाता, निराश होकर बैठ जाता। पर सिद्धार्थ वैसे न थे, इनको देखना और सुनना आता था, जिस दृश्यको ये देखते थे, जिस बात को सुनते थे उसका प्रभाव इनके हृदय पर पड़ता था और वह प्रभाव स्थायी होता था। फिर इनसे चुप कैसे रहा जाता। इतनी बड़ी बातको ये योंही कैसे जाने देते। इन्होंने घर छोड़ा, पिता, स्त्री पुत्र, परिजन तथा राजसी सुख के साथ राज्य छोड़ा और वन में उपाय ढूंढ़ने चले गये। वन में इन्हें एकान्त अवसर मिला, संसार के झंझटों से ये दूर रहे, बहुत दिनों तक एकान्त में रहकर उसका उपाय ढूंढ़ते रहे। अन्त में सफल हुए। बुद्ध ने संसार को अमर अजर और अरोग होने का उपाय बताया। उन्होंने लोगों के रोगों का निदान निश्चय किया और उसकी चिकित्सा बतलायी।

ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों का विषयों से प्रतिदिन साक्षात्कार होता रहता है। दुखियों को सब से पहले सिद्धार्थ ने ही देखा हो यह कोई बात नहीं। इस दुःखमय संसार में दुखियों का दर्शन आसान है। सभी दुखियों को देखते हैं तथा स्वयं दुःख अनुभव करते हैं। बुद्ध के बहुत पहले से यह क्रम चला आ रहा है। ये बातें बहुतों ने देखी और सुनी हैं, पर उस देखने सुनने का कोई अर्थ नहीं। बुद्धका ही देखना अर्थवान् कहा जा सकता है। क्योंकि बुद्ध पर ही देखने सुनने का प्रभाव पड़ा था। बुद्ध ने दुखियों को देखा, उनका हृदय विचलित हो गया। इस दुःख को दूर करना चाहिए, इस बात की उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली। उस समय उनके सामने एक बड़ा विकट प्रश्न उपस्थित हुआ। वह प्रश्न

था राज्य के सम्बन्ध में। सिद्धार्थ राजपुत्र थे, वे एक राज्य के उत्तराधिकारी थे। राज्य पाना बड़े भाग्य की बात समझी जाती है, इसके लिए न मालूम कितने करने और न करने योग्य काम किये जाते हैं। वही राज्य सिद्धार्थ को आज प्राप्त था। इधर संसार का दुःख, उधर राज्य का सुख; क्या किया जाय, किसको छोड़ा जाय और किसका ग्रहण किया जाय! यह प्रश्न साधारण न था। और लोगों के सामने यह न सही इसी तरह के प्रश्न उपस्थित होते हैं तो स्वार्थ की ही जीत होती है। पर बुद्ध के सामने राज्य का प्रश्न एक बार के लिए आया और शीघ्र ही उसका उत्तर भी हो गया। सिद्धार्थ ने समझ लिया कि यह राज्य दुःखों से रक्षा नहीं कर सकता तो निरर्थक है। ऐसा राज्य किस काम का जो दुःखों को न छुड़ावे। फिर स्त्री पुत्र का सुन्दर मुँह सिद्धार्थ के सामने आया। रात्रि का समय था, ये दोनों सो रहे थे। सिद्धार्थ ने देखा—कैसा सौन्दर्य है, निःशङ्क भाव से ये दोनों सो रहे हैं। पति और पिता के द्वारा त्यागे जाने के सन्देह की इन लोगों ने कल्पना तक भी नहीं की थी, ऐसी दशा में इनका त्याग करना क्या उचित है, इस विचार के आते ही सिद्धार्थ का मन कांप गया। वे विचलित हुए, जायँ कि न जायँ! वे एक बार द्वार की ओर गये फिर भीतर आये। उसी समय सिद्धार्थ ने अपने को सँभाला। इन्होंने अपने को कायर समझा। मन ही मन समझा कि यदि राज्य छोड़ा जा सकता है, तो इनका छोड़ना भी आवश्यक है, ये भी दुःख के मूल हैं, यह भी दुःखों से रक्षा

नहीं कर सकते। फिर यह सौन्दर्य किस काम का। यह ठीक है कि इस सौन्दर्य से इस समय मन तृप्त होता है। यह सौन्दर्य आंखों को रुचिकर मालूम होता है। पर इनका इतना महत्व नहीं है जो इनके लिए अपने उद्देश्य से विचलित हुआ जाय। एक व्यक्ति के सुख की अपेक्षा समुदाय का सुख बड़ा है। समुदाय के सुख के लिए व्यक्ति के सुख का त्याग किया जा सकता है। समुदाय ही का सुख व्यक्ति का सुख है, समुदाय के ही सुखी होने से व्यक्ति सुखी होता है।

सिद्धार्थ अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहे। उन्होंने राज्य त्याग तो पहले ही किया था, स्त्री पुत्र पिता आदि का भी त्याग किया। रात को जब सब गहरी नींद में सो रहे थे, सिद्धार्थ ने अपना राज महल छोड़ दिया। वे बन में चले गये, अपने सारथि को उन्होंने राजसी वस्त्र उतार कर दे दिये और स्वयं तपस्या करने लगे। उन्होंने तपस्या के द्वारा दुःखों को दूर करने का उपाय ढूँढ़ना प्रारम्भ किया और वे सफल हुए। उन्होंने संसार को उन उपायों का उपदेश दिया और सब को सुखी किया।

भगवान् बुद्ध ने अपनी कठिन तपस्या के द्वारा जो बात जानीं, उन्हें संसार के कल्याण के लिए प्रकाशित की। उन बातों को न केवल भारतीयों ने ही किन्तु चीन जापान तिब्बत कोरिया आदि देशों के लोगों ने भी माना, उन बातों का अनुष्ठान किया, उन पर विश्वास किया। वे बातें एक समय संसार के कल्याण के लिए प्रधान साधन समझी गयीं।

बुद्ध के समस्त उपदेशों का परिचय कराना इस छोटे से निबन्ध में और इस साधारण ज्ञान रखनेवाले मनुष्य के द्वारा असम्भव है। बुद्ध के उपदेशों का एक संग्रह तीन लाख श्लोकों में है जो त्रिपिटक नाम से प्रसिद्ध है। तथापि एक दो वातों का यहां नामकरण कर दिया जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

अन्य धर्म्मों की अपेक्षा बौद्ध धर्म की विशेषता

अन्य धर्मावलम्बी अपने अपने मूल धर्मग्रन्थों को ईश्वर का बनाया बतलाते हैं। वेद, बायबिल, क़ुरान, ज़ींद अवस्ता आदि पुस्तकें ईश्वर की बनायी हैं। ईश्वर ने अपने पुत्र के लिए अथवा किसी अपने प्रिय के लिए अपना ज्ञान, अपने उपदेश इन पुस्तकों के रूप में दिये हैं, पर बौद्धधर्म में ऐसी कोई पुस्तक़ नहीं है। बौद्धधर्म की पुस्तकें बुद्धों की बनायी हैं, बौद्धों के उपदेशों के संग्रह हैं। अन्य पुस्तकों में किसी ख़ास मानव समुदाय के उपदेश की बातें लिखी हैं, पर बौद्ध धर्म की पुस्तकों में ये बातें नहीं हैं। वे सब के लिए हैं, उनमें कोई शापित नहीं। बौद्धों का कोई प्रिय नहीं और न कोई शत्रु। बौद्धों का मत यह है कि जिन्होंने सावधानी से विचार किया है और जिनके आचरण पवित्र और निष्कलङ्क हैं वे ही सत्य ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और वे ही सत्य लोकों को पा सकते हैं। जिन्होंने सत्य ज्ञान की दिव्य दृष्टि प्राप्त की वे ही गुरु अथवा बुद्ध कहे जा सकते हैं। बौद्धधर्म में ऐसे सत्य ज्ञान और दिव्य दृष्टि पानेवाले अनेक बुद्ध हो गये हैं। गौतमबुद्ध उनमें अन्तिम बुद्ध हैं।

हम साधारण मनुष्य लोग सृष्टि रहस्य, मनुष्य जन्म की सार्थकता, नैतिक ज्ञान का महत्व आदि बातों का ज्ञान नहीं रखते. इसी कारण हम लोगों के आचरणों में, कार्यों में, अनेक दोष हो जाया करते हैं और उन्हीं दोषों के परिणाम दुःख रूप में हमारे सामने आते हैं। जो बातें ऊपर से अच्छी दीख पड़ीं—उनका भीतरी रूप चाहे कुछ भी हो, उनसे होने वाली हानियाँ चाहे कितनी ही भयानक हों—हम लोग उन्हीं में फँस जाते हैं। हम लोग ऐहिक और विनाशी सुखों में फंस कर शाश्वत सुख को भूल जाते हैं। इस कारण हम लोग अपने आचरणों में गलती करते हैं, व्यवहारों में और कार्यों में मनमानी करते हैं, जिसके फल स्वरूप दुःख भोगना पड़ता है। हम लोग दुःखों से दूर होने का प्रयत्न अवश्य करते हैं, पर अज्ञान के कारण दुःखों के रूप में परिवर्तन करते हैं, एक दुःख से हटकर दूसरे दुःख में उलझते हैं। इस प्रकार अनेक बार प्रयत्न करने पर भी जब मनुष्य अपने दुःख दूर नहीं कर सकता, तब उसे विश्वास हो जाता है कि ये दुःख स्वाभाविक हैं, इनका दूर करना हमारी शक्ति के बाहर की बात है। इसी भ्रान्त ज्ञान का नाम संसार है और इस संसार से मुक्त होने के उपाय बतानेवाले गुरु का नाम बुद्ध है। तृष्णा नाम की वासना ही सब दुःखों का मूल है। जन्म, पुनर्जन्म, मरण आदि उसी के कारण होते हैं। इस लोक तथा परलोक में मनुष्य जीना चाहता है, अपने जीवन को सुखमय बनाना चाहता है, इसके लिए अनेक इष्ट वस्तुओं को पाना चाहता है तथा अनिष्ट

वस्तुओं का त्याग करना चाहता है, इसी इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार के लिए वह अनेक प्रयत्न करता है और दुःखी होता है। यह सब कार्य अविद्या का है, अज्ञान का है। अतएव इस अविद्या का नाश करके चार आर्य सत्य और अष्टाङ्गिक मार्ग का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, इनके ज्ञान हो जाने से मनुष्यों को निर्वाण की प्राप्ति होती है, दुखों का नाश होता है और शाश्वत सुख प्राप्त होता है। यही बौद्धों का मत है।

बौद्ध आर्य सत्य चार प्रकार के बतलाते हैं। १—दुःख स्वरूप, २—दुःखों का कारण ३—दुःखों का दूर करना तथा ४—उसके उपाय। भगवान् बुद्ध ने अपने अन्तिम उपदेश में दुःख स्वरूप के विषय में जो उपदेश अपने शिष्यों को दिया है, वह "महा परिनिव्वाण सुत्त" में संगृहीत है। उसका सारांश यह है—जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, इष्ट वस्तु की प्राप्ति अथवा उसका नाश और उद्देश्यसिद्धि का अभाव ये सब दुःख के स्वरूप हैं। इनकी उत्पत्ति ही दुःखमय है और यही पहला आर्य सत्य है। यह जीवन दुःखमय है, इसे सुखी बनाने के लिए मनुष्य सुख ढूंढ़ता है, उसके लिए प्रयत्न करता है इसी कारण उसे जन्म लेना पड़ता है। इसी सुख की वासना को तृप्त करने के लिए मनुष्यों के प्रयत्न, अपने ऐहिक या पारत्रिक व्यक्तिगत सुख की कामना ही दुःख का कारण है। यही दूसरा आर्य सत्य है। सुख पाने की वासना स्वाभाविक है, उसीके लिए मनुष्य प्रयत्न करता है, पर अविद्या के कारण दुःख उपजानेवाली वस्तुओं को सुखकारक समझ

लेता है अतएव कभी उसके मनोरथ सिद्ध नहीं होते। पर जब उसे यह मालूम हो जाता है कि इन पदार्थों से सुख मिलना कठिन है, जब तक वासना है तब तक सुख नहीं इसी ज्ञान को दुःख दूर करना कहते हैं और यह तीसरा आर्य सत्य है। जिन उपायों से ये दुःख दूर किये जाते हैं उनको जानना चौथा आर्य सत्य है। वह उपाय है आर्य अष्टाङ्गिक मार्गका पालन करना।

वे उपाय आठ अंगों में विभक्त हैं इसलिए उनके समुदाय को अष्टाङ्गिक मार्ग कहते हैं। वे यथाक्रम नीचे लिखे जाते हैं। १ सम्यक् दृष्टि, २ सम्यक् संकल्प, ३ सम्यक् वाक् ४ सम्यक् कर्मान्त ५ सम्यक् आजीव, ६ सम्यक् व्यायाम, ७ सम्यक् स्मृति, ८ सम्यक् समाधि।

बुद्धदेव ने अपने उपदेशों को बिना सोचे विचारे मानने की किसी से सिफ़ारिश नहीं की है। बुद्ध कहते हैं—स्वयं समझो बूझो, अनुकूल प्रतिकूल सभी तरह के तर्कों पर कसो, ठीक मालूम पड़े मानो, ठीक न जंचे छोड़ दो, बुद्ध के उपदेशों में अंध श्रद्धा के लिए थोड़ा भी स्थान नहीं। यह काम करना चाहिए और यह न करना चाहिए, इससे मिलना चाहिए और उससे न मिलना चाहिए, इसका साथ करना चाहिए आदि बातों का खटराग बुद्ध के उपदेशों में नहीं है। बुद्ध के उपदेशों में अधिकारी और अन-धिकारी का भी प्रश्न नहीं है। बुद्ध के यहां सभी अधिकारी हैं, यहां धन का, जाति का प्रश्न नहीं। संसार का दीन दुखी समुदाय बुद्ध का प्रिय है, बुद्धदेव उसी समुदाय के लोगों का आह्वान करते

हैं। बुद्धदेव की प्रतिज्ञा है कि जो बात बुद्धि ग्राह्य न हो, युक्तिसंगत न हो और भेद भाव पर अवलम्बित हो वह मेरा उपदेश नहीं।

बुद्धदेव ने अपने शिष्यों को यमनियम आदि नीति तत्वों का उपदेश दो प्रकार से दिया है, क्योंकि उनके शिष्य दो श्रेणी के थे एक गृहस्थ और दूसरे भिक्षु। भिक्षुओं के लिए नीति के उपदेश भिन्न प्रकार के हैं और गृहस्थों के लिए भिन्न प्रकार के। पर उनके कुछ साधारण उपदेश थे, कुछ साधारण नियम थे जो बुद्ध के शिष्य मात्र के लिए आवश्यक थे। बुद्ध ने साधारण यम पांच प्रकार के बतलाये हैं और वे ये हैं—अहिंसा, अस्तेय, अव्यभिचार, असत्यनिषेध और अमादन। यही बात नीचे लिखे पालि श्लोक में इस प्रकार कही गयी है—

सव्वपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।

सचित्त परिमोदयनं एनं बुद्धस्स सासनं॥

इनके अतिरिक्त और भी कई ऐसे सुन्दर उपदेश हैं जो सर्वसाधारण के लिए कहे जा सक्ते हैं। वे उपदेश एक से एक सुन्दर हैं और थोड़े नहीं हैं किन्तु बहुत हैं, उन सबका परिचय कराना अशक्य है। फिर भी सुख किसको कहते हैं, इस प्रश्न का उत्तर बुद्धदेव ने जो दिया है वह मैं लिख देना चाहता हूँ—

१—मूर्खों की नहीं किन्तु विद्वानों की सेवा और माननीयों का सम्मान करना परम सुख है।

२—उत्तम स्थान पर रहना, सत्कर्म करना तथा सद्वासना रखना परम सुख है।

३—मानसिक विषयों की चिन्ता और शिक्षा, आत्मा का संयम और मधुर भाषण यही परम सुख है।

४—माता पिता की सेवा, बालकों का पालन और अपने उद्योग को शान्तभाव से चलाना, यही परम सुख है।

५—धर्म करना, सदाचार रखना, परस्पर की सहायता करना और निन्दित कर्म न करना, यही परम सुख है।

६—पापों का तिरस्कार, मद्य का निषेध और सदा परोपकार में लगा रहना ही परम सुख है।

७—पवित्रता और नम्रता, सन्तोष, कृतज्ञता और धर्म श्रवण की इच्छा, यही परम सुख है।

८—आत्मनियम और शुद्धि, आर्य सत्यों का ज्ञान और निर्वाण प्राप्ति, यही सब सुखों से श्रेष्ठ सुख है।

९—इस संसार-समुद्र में जिसका मन चञ्चल नहीं होता, दुःख क्रोध हर्ष आदि से जिसका मन विकृत नहीं होता, वही परम सुखी है।

१०—जो इन नियमों का पालन करता है और सदा निर्भय रहता है वही परम सुखी है।

आमगंध सूक्त में कहा गया है—क्रोध, मद्यपान, दुराग्रह, हठ, विश्वासघात, घृणा, आत्मस्तुति, परनिन्दा, अनुदारता आदि से मन अपवित्र होता है अतएव इनका त्याग करना चाहिए।

जटाधारण, तपश्चर्या, होम आदि से मन की अपवित्रता दूर

नहीं होती। वेदाध्ययन, होम, दक्षिणा, तपस्या इनमें मानसिक मल दूर करने की शक्ति नहीं।

इसी प्रकार के अनेक साधारण उपदेश बुद्ध के हैं। इनके साधारण उपदेशों में अनेक तो महाभारत, शुक्रनीति आदि से ज्यों के त्यों उठा लिये गये हैं। बुद्ध के उपदेशों में कई श्लोक तो ऐसे पाये जाते हैं जिनमें पुराने उपदेशों से भाषा भेद के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं। दोनों में एक ही बात। उदाहरण देखिए—

योऽधिकाद् योजन शतात् पश्यतीहामिषं खगः।
स एव प्राप्तकालस्तु पाशबन्धं न पश्यति॥

(संस्कृत)

यन्नु गिज्झो योजन सतं कुणपानि अवेक्खति,
कम्माजालं च पासं च आसज्जापि न बुज्झति।

(पाली)

कितना साम्य है, निर्णय करना कठिन है कि कौन किसका अनुवाद है।

ईश्वर

बुद्धदेव निरीश्वरवादी कहे जाते हैं, अतएव बौद्ध धर्म नास्तिक धर्म समझा जाता है। इसका प्रधान कारण है, ईश्वर के लक्षण की भिन्नता। जिसकी कृपा या इच्छा से यह संसार उत्पन्न होता है वह ईश्वर है। इसी प्रकार का ईश्वर दूसरे धर्मों में माना गया है, पर बौद्ध धर्म में ऐसे ईश्वर या किसी पुरुष विशेष की सत्ता नहीं। बौद्धमत में संसार की उत्पत्ति के लिए किसी व्यक्ति विशेष

की आवश्यकता नहीं, क्योंकि बौद्धगण सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय को अनादि मानते हैं। इस समस्त संसार की उत्पत्ति किसी एक समय नहीं हुई है, पूर्वसंचित कर्मों के कारण जगत का कोई भाग नष्ट होता है और उसके स्थान में नया जगत उत्पन्न हो जाता है। यह सृष्टि कर्मोंके कारण होती है, ईश्वर की इच्छासे नहीं। अतएव यह सिद्ध है कि बौद्ध व्यक्ति विशेष ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करते। पर अपरिवर्तनशील नियम-बन्धन-रूप शक्ति की सत्ता वे भी मानते हैं। इसी शक्ति को यदि हम ईश्वर नाम से पुकारें तो बौद्ध भी ईश्वरवादी कहे जा सकते हैं। बात यह है कि बुद्धदेव ने ईश्वर के सबन्ध में कोई खास उपदेश नहीं दिया है। इसी कारण वे निरीश्वरवादी कहे जाते हैं। उनके उपदेशों में ईश्वर विषयक कोई प्रसंग आया ही नहीं है, ऐसी दशा में उनके निरीश्वरवादी होने की कल्पना जैसे की जा सकती है उसी प्रकार उनके ईश्वरवादी होने की भी कल्पना की जा सकती है। किसी के भी प्रतिकूल कोई बात नहीं, जिसके मन में जो बात आवे वह वही समझे।

अन्य धर्मों में श्रद्धा का बड़ा महत्व है और वह इसलिए कि श्रद्धाके द्वारा ईश्वर जाना जाता है। पर बौद्ध धर्म के लिए श्रद्धा कोई वस्तु नहीं, वहां इसके लिए कोई स्थान नहीं। बुद्धसंघ और धर्म की शरण जाने का उपदेश बौद्ध धर्म देता है। वह कहता है—बुद्धं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि। इन उपदेशों को सुनकर कुछ लोग समझते हैं कि

बौद्ध धर्म में भी श्रद्धा का स्थान है। इन वाक्यों में बुद्ध संघ और धर्म के प्रति श्रद्धा रखने की बात कही गयी है। पर बौद्ध साहित्य का जिन लोगों ने अध्ययन किया है वे जानते हैं कि बुद्ध नामक व्यक्ति में श्रद्धा रखने का उपदेश बौद्ध धर्म नहीं देता, किन्तु बुद्ध पद के प्रति श्रद्धा प्रदर्शन करना उस उपदेश का लक्ष्य है। बुद्ध का पद ज्ञान के कारण मिलता है और इसी कारण यह उपदेश दिया गया है। इन बातों पर विचार करने से यह बात ध्यान में आ जाती है कि अन्य धर्मों में श्रद्धा का जो स्थान है बौद्ध धर्म में वह स्थान ज्ञान का है। जिनकी समझ में ज्ञान का कोई महत्व नहीं वे बौद्ध धर्म को नास्तिक कह सकते हैं। पर यदि ईश्वर का खंडन करना, ईश्वर-विश्वास के प्रतिकूल विश्वास उत्पन्न करना ही नास्तिकता है तो यह कहना चाहिये कि बौद्ध नास्तिक नहीं, बुद्ध नास्तिक धर्म के उपदेशक नहीं।

यह बात ठीक है कि बुद्ध के उपदेशों और कार्यों में ईश्वर को अनावश्यक महत्व नहीं दिया गया है। हर काम में ईश्वर की दुहाई नहीं दी गयी है, संसार के सब काम ईश्वर को नहीं सौंपे गये हैं, बुद्ध ने यह नहीं समझा है कि ईश्वर सदा हम लोगों की चिन्ता किया करता है, हमारे सुख दुख की फिक्र में पचा करता है। वह हमारा हिसाब किताब रखता है, वह हमारे खाने पीने का प्रबन्ध किया करता है—ये बातें बुद्ध धर्म में नहीं हैं। यही कारण है कि बुद्ध के उपदेशों में ईश्वर का कोई प्रसङ्ग नहीं आने पाया है। बुद्धदेव ने ईश्वर तत्त्व का निरूपण करने के लिए

संसार में प्रवेश नहीं किया है। संसार के दुखियों को देखकर उनका हृदय विचलित हुआ। वे दुःख दूर करने का उपाय ढूंढ़ने लगे। उन्होंने तपस्या की, सोचा विचारा, उन्हें मालूम हुआ कि संसार के मनुष्य अपने कर्मों से दुःख पा रहे हैं, अतएव मनुष्य के कर्मोंको पवित्र बनाने के लिए उन्होंने उपदेश दिये हैं। किन कर्मों के करने से मनुष्य सुखी होंगे ये बातें उन्होंने बतलायी हैं। सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाने के लिए बुद्ध ने जो उपाय बतलाये हैं उन उपायों को ढूंढ़ने के लिए उन्होंने जिस मार्ग का अनुसरण किया है, उसमें उन्हें ईश्वर नहीं मिला। इसलिए उन्होंने ईश्वर के सम्बन्ध में कोई बात नहीं कही। बात यही है, अब आप चाहे बुद्ध को ईश्वरवादी समझें या निरीश्वरवादी।

खण्ड चार

दानवीर

(१) महर्षि दधीचि

(२) अंगराज कर्ण

महर्षि दधीचि और कर्ण

ये दोनों दानवीर के नाम से प्रसिद्ध हैं। एक ने दान में अपने शरीर की हड्डियां दी हैं। दूसरे ने अपने शत्रु के पक्षपति को अपने जीवन-रक्षा करने के प्रधान साधन दान में दिये हैं। दोनों ही दान अनुपम और अद्भुत हैं।

संस्कृत ग्रन्थों में परशुराम दानी के नाम से मशहूर हैं, पर क्या उनका दान इन दोनों के दान की कोटि का है? उन्होंने समस्त पृथ्वी का दान किया है। यह मैं मानता हूं कि समस्त पृथ्वी का मूल्य महर्षि दधीचि की हड्डियों से तथा कर्ण के कवच और कुण्डलों से अधिक होगा। पर सत्साहस किसमें अधिक है, किस दानमें सांसारिक विभवों, वासनाओं और सुखों की उपेक्षा है? पृथ्वी के दान से परशुराम का क्या गया? वे पहले भी कभी राजा न थे, उन्होंने कभी राज्य-शासन नहीं किया था। उनका समस्त जीवन बन में बीता था, ऋषि जीवन उन्होंने बिताया था, ऐसे मनुष्य के लिए तो राज्य एक बन्धन के ही समान मालूम पड़ेगा। पर शरीर रखने का तो सभी को अधिकार है। सभी शरीर की रक्षा करते हैं, उससे अनेक प्रकार की आशा रखते हैं। शरीर का दान कुछ ऐसा वैसा दान नहीं। प्रकारान्तर से यह अपनी समस्त मानसिक वृत्तियों का त्याग है,

अपनी समस्त सांसारिक वासनाओं को मिटा देना है। यह काम कुछ हंसीखेल का नहीं है और सभी इस काम को कर भी नहीं सकते।

परशुराम के समान पराक्रमी पुरुष एक पृथ्वी देकर भी अपने लिए दूसरी पृथ्वी ढूँढ़ सकता है और उन्होंने ढूँढा भी, पर दूसरा शरीर नहीं मिल सकता। वर्त्तमान शरीर में जो वासनाएँ उत्पन्न होती हैं उनकी पूर्ति यदि उसी शरीर में हो तो विशेष आनन्द आता है। अतएव परशुराम के दान का महत्व होने पर भी इनके सामने उसका कुछ विशेष गौरव नहीं।

महर्षि दधीचि

धीचि एक बड़े प्राचीन महर्षि हैं। पुराणों में इनका उल्लेख अवश्य है, पर कोई विशेष इनका परिचय नहीं। सिर्फ़ इनके एक कार्य का परिचय मिलता है, वही सभी जगह लिखा मिलता है, कहीं कुछ कम है और कहीं अधिक। उस कार्य के अतिरिक्त इनके विषय में और कुछ मालूम नहीं, ये किस कुल में उत्पन्न हुए थे, कहां कहां इन्होंने तपस्या की थी, किसी राजा को यज्ञ कराया था कि नहीं, किससे इन्होंने शास्त्राध्ययन किया था, किससे इनका प्रेम था और किससे द्वेष आदि बातों का कहीं उल्लेख नहीं।

एक घटना के बल पर किसी का सदा के लिए प्रसिद्ध हो जाना आश्चर्य की बात है। लोगों के लिए बड़ी बड़ी पुस्तकें बनती हैं, सालों और महीनों का कौन कहे, दिनों, घंटों और मिनिटों तक की बातें लिखी जाती हैं, मित्रों का परिचय दिल खोलकर दिया जाता है, और शत्रु कोसे जाते हैं। फिर भी उनका नाम अमर नहीं रहता। उनको मृत्यु हुई और दो तीन वर्ष बीतते न बीतते लोग उन्हें भूल जाते हैं, घटनाओं की माला से लबालब भरी वह पुस्तक एक काम नहीं आती। वह पुस्तक सामने पड़ी रहती है फिर भी लोग उस पुस्तक के नायक का स्मरण करना कर्तव्य

नहीं समझते। ऐसी दशा में दधीचि को लोग नहीं भूलते जिनके वारे में कहीं दस पंक्ति और कहीं पचीस पंक्ति लिखी है, यह सचमुच आश्चर्य की बात है और आनन्द की भी।

स्मृति के लिए घटना में महत्व होना चाहिए। जिस जीवन से किसी एक भी महत्व पूर्ण घटना का संबन्ध हो जाता है, वह सदा के लिए अमर हो जाता है, चाहे उसके लिए कुछ लिखा जाय या न लिखा जाय, चाहे उसके लिए काव्य वनाया जाय या न बनाया जाय, चाहे उसका जीवनचरित चित्र के साथ प्रकाशित किया जाय या न प्रकाशित किया जाय। महर्षि दधीचि के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली घटना भी ऐसी ही है, वह बड़ी ही महान् है, अद्भुत है, अनुपम है।

मनुष्य अपने गुणों के कारण अमर होता है, और उन गुणों में त्याग सबसे बड़ा गुण है। त्याग भी कई प्रकार का होता है। त्याग में भी छोटाई बड़ाई हुआ करती है। जिस त्यागी के त्याग का विशेष प्रियता से सम्बन्ध होता है, अर्थात् जो सबसे प्रिय वस्तु का त्याग करता है वही त्यागी श्रेष्ठ समझा जाता है और उसका त्याग भी अन्य त्यागों से श्रेष्ठ होता है इसमें सन्देह नहीं। रुपये पैसे का त्याग कोई बड़ी बात नहीं। पर जिस वस्तु का त्याग कठिन है उसका यदि कोई त्याग करे तो अवश्य ही वह महान् है और उसका त्याग भी महान् है।

मनुष्य अपने सुख के लिए सारे प्रयत्न करता है, और वह सुख शरीर के द्वारा वह भोगता है। महर्षि दधीचि के सामने आकर

इन्द्र ने हाथ जोड़ कर प्रार्थना की—महाराज, देवगण बड़ी विपत्ति में हैं, कृपा कर उनकी रक्षा कीजिए, देवताओं की रक्षा के लिए आपके शरीर की हड्डी की आवश्यकता है। दधीचि ने इन्द्र की प्रार्थना सुनी और हँस कर कहा—सांसारिक जीवों की ममता शरीर ही पर हुआ करती है और वही तुम मांगते हो। खैर मुझे शरीर से प्रेम नहीं, तुम यदि इसे चाहते हो, इससे यदि तुम्हारा लाभ हो तो हाज़िर है। इस त्याग का क्या मूल्य है?

(२)

महर्षि दधीचि किसी बन में रहा करते थे, वहां इनका सुन्दर आश्रम बना था। आश्रम के आस पास की भूमि वृक्षों और लताओं से हरी भरी थी, पास ही एक नदी थी। उस आश्रम में और भी अनेक शिक्षार्थी ऋषि रहा करते थे। इन सब का काम था अध्यात्म चिन्तन, शास्त्रों का पठन पाठन तथा बाक़ी समय संसार के छल कपट से अनभिज्ञ पशुओं से क्रीड़ा। दधीचि वहां के कुलपति थे। वह एक मनोहर दृश्य था, जिसका हम लोग इस समय कल्पना भी नहीं कर सकते।

महर्षि दधीचि की उमर बहुत बीत गई थी, इन्होंने अनेक अध्यात्म बिषयों का पता लगाया था, ये अपने समय के ऋषि महर्षियों में सर्व श्रेष्ठ थे। अन्य अन्य स्थानों के भी ऋषि महर्षि इनके यहां समय समय पर आया करते थे और अपना अपना सन्देह मिटाया करते थे। महर्षि दधीचि को इस काम में बड़ा आनन्द आता था। ये लोगों के संदेहों को दूर करने के लिए सदा

तैयार रहा करते थे। इस कारण दूसरे भी इनसे बड़ा प्रेम करते थे, इन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखा करते थे। एक दिन महर्षि दधीचि के आश्रम पर ऋषि महर्षियों की भीड़ लगी हुई थी, देवासुर संग्राम पर विचार हो रहा था, देवताओं को असुर व्याकुल कर रहे हैं, देवताओं से कुछ करते धरते नहीं बनता, देव गुरु बृहस्पति का ज्ञान कुण्ठित हो गया है, इन्द्र का पराक्रम इस समय बेकाम है, देव सेना निकम्मी हो रही है, देवगण भस्म हो रहे हैं, भय के मारे वे खाना पीना भूल गये हैं।

एक ऋषि ने पूछा—ऐसा क्यों हो रहा है ?

दूसरे ने कहा—दुर्बल को बली दबाता है, यह साधारण नियम है। असुर बलवान हैं।

इसी प्रकार के तर्क वितर्क वहां हो रहे थे, कोई कुछ कहता था और कोई कुछ। महर्षि दधीचि चुप थे। वे उनकी बातें सुन रहे थे कि नहीं यह भी कुछ स्पष्ट रीति से नहीं कहा जा सकता। उनकी चेष्टा से मालूम होता था कि वे कुछ सोच रहे हैं। वहां उस समय जो बैठे थे उनका उधर ध्यान न था। वे तर्क वितर्क में ही लीन थे। उसी समय सहसा लोगों के सामने एक वृद्ध ब्राह्मण उपस्थित हुआ। लोगों ने उसका स्वागत किया। महर्षि को प्रणाम कर वह बैठ गया। महर्षि ने तीखी नजर से उसकी ओर देखा। वह घबड़ा गया और खड़ा होकर हाथ जोड़ कर बोला—महाराज मैं इन्द्र हूं, ब्राह्मण वेश में मैं आपकी सेवा में इस लिए उपस्थित

हुआ हूं कि मुझे कुछ आप से मांगना है, अतएव मांगने के उपयुक्त यह रूप मैंने धारण किया है।

महर्षि ने कहा—इन्द्र, तुम छल के लिये प्रसिद्ध हो, तुम अपनी इसी छल प्रधान नीति के कारण इस समय दुःख उठा रहे हो और तुम्हारी इस अयोग्यता का फल समस्त देवों को भोगना पड़ रहा है। यह तुमको निश्चय रूप से जान लेना चाहिए कि छल में विजयी होने की शक्ति नहीं है, तुम इतने दिनों से देव राज्य का पालन कर रहे हो, तुम्हें इस स्पष्ट सत्य का अनुभव हो जाना चाहिये था पर दुःख है कि वह अभी नहीं हुआ।

इन्द्र ने कहा—महाराज, नीति मेरी नहीं है, किन्तु वह बृहस्पति की है, मैं बृहस्पति की नीति को कार्य रूप में परिणत करने का प्रयत्न भर करता हूं। ऐसी दशा में नीति के कारण जो असफलता होती है, उसका दोष मुझ पर नहीं हो सकता।

महर्षि ने कहा—इस सम्बन्ध में मुझे कुछ कहना नहीं है, पर आपको इससे यह न समझ लेना चाहिए कि मेरी दृष्टि में आप नीति के संबन्ध में निर्दोष साबित हो गये। आपकी इन बातों का मुझ पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है, मैं पहले जैसा आपको दोषी समझता था वैसा ही अब भी समझता हूं। आपका यह कहना सच है कि आप बृहस्पति की आज्ञाओं का पालन करते हैं, उनकी बतलाई नीति पर चलते हैं। पर इससे क्या हुआ। चलने वाले तो आप ही हैं। बृहस्पति चलाने वाले हैं, वे चलने वाले में जैसा बल देखें गे, उसकी जैसी प्रवृत्ति देखेंगे उसी प्रकार उसको चलने

के लिए भी कहेंगे। सभी मनुष्य सब उपायों का अनुष्ठान नहीं कर सकते। अतएव सभी के लिए एक समान उपदेश भी नहीं हुआ करता। इस बात को समझना संचालक की खूबी है। इस बात को समझकर जो उपदेश देता है उसका उपदेश कार्यकारी होता है, उसका उपदेश सार्थक है, वह अपने उपदेश के द्वारा अपने शिष्य का कल्याण कर सकता है।

इन्द्र चुप रहे, उन्होंने कुछ कहने का प्रयत्न किया पर वे सफल न हो सके। यह देखकर महर्षि दधीचि ने कहा—कहो क्या कहना चाहते हो, कोई भय नहीं। इन्द्र ने कहा—महाराज आप को मालूम ही है कि इस समय देवताओं पर कैसी विपत्ति पड़ी हुई है, वे इस समय कितने दुःख भोग रहे हैं। मेरा बल व्यर्थ हो गया, बृहस्पति की नीति से भी कोई फल नहीं निकलता। हम सब लोग हताश हो कर ब्रह्मदेव की शरण गये थे, उनसे हमलोगों ने अपने दुःख सुनाये और उसके दूर करने में सहायता माँगी। ब्रह्मदेव की हम लोगों ने बड़ी स्तुति की, वे प्रसन्न हुए और उन्होंने उपाय बतलाया। उसी के लिए मैं आप की सेवा में आया हूँ।

इतना कह कर इन्द्र चुप हो गये। महर्षि भी चुप थे। इसी तरह कुछ समय बीत गया, पर इन्द्र न बोले। तब महर्षि ने कहा—कहिए आप को इस सम्बन्ध में मुझसे क्या कहना है। आप सङ्कोच क्यों करते हैं, जो कुछ आप कहना चाहते हैं निःसङ्कोच हो कर कहें।

इन्द्र ने कहा—महाराज मैं आप से कुछ प्रार्थना करने आया हूं। देवताओं के कल्याण के लिए ब्रह्मदेव की आज्ञा से मैं आप से कुछ मांगना चाहता हूं। आप महर्षि हैं, आप को सब विषयों का यथार्थ ज्ञान है, आशा है आप मेरी प्रार्थना पूर्ण करेंगे, आप मुझे हताश न करेंगे।

महर्षि ने कहा—आप जो कुछ कह रहे हैं वह अपने विचार से ठीक ही कह रहे हैं उसके सम्बन्ध में मुझे कुछ भी नहीं कहना है, पर आप की प्रार्थना क्या है, यह अभी तक मुझे मालूम न हुआ। आप असली बात छिपाते हैं और इधर उधर की अनेक बातें करते हैं। ऐसी दशा में मैं अपने कर्तव्य का निर्णय कैसे कर सकता हूँ।

इन्द्र ने कहा—महाराज, ब्रह्मदेव ने कहा है कि वृत्रासुर का नाश तुम लोगों के पराक्रम से नहीं हो सकता। उसके नाश का एक ही उपाय है और वह यह है कि महर्षि दधीचि की हड्डी का बज्र बनाया जाय और इन्द्र उससे युद्ध करें तब वह पराजित होगा, नहीं तो नहीं। इसी कार्य के लिये मैं आया हूँ। आप महर्षि हैं, आप ही लोगों के सहारे देवताओं की स्थिति है।

महर्षि ने कहा—देवराज इन्द्र, आपके बिना कहे भी मैं आप के आने का उद्देश्य जानता था। पर मेरी इच्छा थी कि वह मैं आप के मुख से स्पष्ट स्पष्ट सुनूं। पर वह मेरा मनोरथ पूरा न हो सका। मैंने बहुत प्रयत्न किया, कई बार पूछा तब जाकर आपने कहीं कहने की कृपा की, सो भी घमा फिरा कर, साफ साफ नहीं।

आप लोगों का यह स्वभाव ही है, राज्य प्रकरण के संसर्ग से लोगों की प्रकृति भी वक्र हो जाती है, उनकी बातें भी वक्र हो जाती हैं। आप तो देवराज हैं, फिर इन बातों की आप में कमी कैसे रह सकती है ! साफ़ साफ़ बातें करने की आदत आप कहां से पा सकते हैं ! अच्छा जाने दीजिये, उसके संबन्ध में मुझे कुछ कहना नहीं। हां एक इच्छा थी, चाहता था कि आप के मुँह से साफ़ साफ़ बातें सुन कर एक नयी बात समझूं, राजकाजियों की प्रकृति में बदलाव देख कर प्रसन्न हो लूं। पर चिन्ता नहीं, क्या सभी की सभी इच्छाएँ पूरी होती हैं ! देवराज, आप जो हमारे शरीर की हड्डियां मांगने आये हैं वह अपने कल्याण के लिए। आप मेरी हड्डियों से वज्र बनाना चाहते हैं और उस वज्र से शत्रु का नाश कर देवताओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं। अपना पद क़ायम रखना चाहते हैं। कहिए येही बातें हैं न ? तब आप को सोचना चाहिये था कि जिस प्रकार आप को अपना कल्याण प्रिय है उसी तरह वह दूसरों को भी प्रिय है। लौकिक कल्याण भोगने और पारलौकिक कल्याण प्राप्त करने का साधन यह शरीर ही है यह बात तो आप को मालूम है। ऐसी दशा में आप अपने कल्याण पर दूसरे के कल्याण का बलिदान क्यों चढ़ाना चाहते हैं ?

इन बातों को सुन कर इन्द्र हताश हो गये, वे कुछ बोल न सके। महर्षि ने पुनः कहा—ये बातें मैं अपने संबन्ध में नहीं कह रहा हूँ। आप यह न समझिये कि इन बातों को कह कर मैं आप

को निराश कर रहा हूँ। वे बातें अभी अलग हैं उनका उत्तर मैं थोड़ी देर के बाद देता। पर मैं देखता हूँ कि आप घबड़ा गये हैं; अतएव अब मैं योग क्रिया के द्वारा अपना शरीर छोड़ता हूं आप हड्डियों को ले लीजिएगा, और उनसे अपना मनोरथ सिद्ध कीजिएगा।

महर्षि ने ऐसा ही किया, और यही वह एक घटना है जिसके कारण महर्षि दधीचि मर कर भी अमर हैं।

र्ण एक विख्यात वीर थे। राजा दुर्योधन के ये प्रिय मित्र थे और इन्हीं के भरोसे वह अपने को अजेय समझता था। कर्ण ने महाभारत के युद्ध में अपनी वीरता दिखायी भी थी, इन्होंने अपने पराक्रम से पाण्डवी सेना को कंपा दिया था, राजा युधिष्ठिर के छक्के छुड़ा दिये थे, और अर्जुन को पसीने से तर बतर कर दिया था। लोगों को सन्देह था कि कर्ण के पराक्रम से पाण्डव सेना की सब सफलता कहीं मटिया मेट न हो जाय। स्वयं कर्ण भी अपने को दानी नहीं समझते थे किन्तु अपने को एक पराक्रमी वीर समझते थे। इन्होंने अपने मुंह से किसी दिन अपने को दानी नहीं कहा है किन्तु वीर होने की घोषणा कई बार की है। ये अपने विषय में कहा करते थे—

सूतो वा सूत पुत्रो वा योवा कोवा भवाम्यहम्,
दैवायत्तं कुलेजन्म मदायत्तं तु पौरुषम्।

मैं सूत (जाति विशेष) होऊं, सूत का लड़का होऊं, चाहे जो होऊं, किसी कुल विशेष में जन्म होना भाग्य के अधीन है, इसमें मेरा कोई वश नहीं, हां पुरुषार्थ मेरे अधीन है।

अपनी इस उक्ति में कर्ण ने अपने पराक्रम का ही उल्लेख किया

है, आजन्म वीर व्रत उन्होंने धारण किया था, इस व्रत के लिए उन्होंने बड़े बड़े कष्ट उठाये, पर इस व्रत को न छोड़ा। यही इनका स्वभाव था, पर यह इनकी विशेषता न थी, विशेषता थी दान करने की शक्ति की। वे असीम दानी थे, वे दान करते थे निष्काम होकर। सांसारिक किसी कामना से नहीं और न पारलौकिक फल की ही कामना से। उनके पास ऐसी कोई वस्तु न थी जो अदेय हो। मांगने वाला होना चाहिए, फिर कर्ण देने में आना कानी नहीं करते थे। कर्ण के यहां प्रति दिन बड़े समारोह से ब्राह्मण भोजन होता था। अन्नदान सदा होता रहता था। जो आवे खा जाय, किसी को रोक टोक नहीं, टिकट दिखाने की झंझट नहीं। इनके जीवन की घटनाएँ भी बड़ी रोचक हैं।

(२)

इनकी माता का नाम कुन्ती था, ये कुन्ती के गर्भ से सूर्य के द्वारा उत्पन्न हुए थे। इस संबन्ध में एक कथा कही जाती है। कुन्ती जब अविवाहिता थीं, पिता के घर थीं, उस समय एक दिन दुर्वासा ऋषि वहां पधारे। कुन्ती ने उनकी बड़ी सेवा की, ऋषि उस पर प्रसन्न हो गये, और इच्छानुसार देवताओं के आह्वान करने का मन्त्र उन्होंने कुन्ती को दिया। कुन्ती बालिका थी, उसका ज्ञान प्रौढ़ नहीं हुआ था। स्वर्ग के देवता बुलाने की बात उसके लिए एक कौतुक के अतिरिक्त और कुछ भी न थी। प्रसन्नता पूर्वक मन्त्र ले लिया, और उस मन्त्र की सत्यता की परीक्षा की। मन्त्र का प्रभाव आज भले ही कुछ न हो, पर उस समय था क्योंकि

मन्त्र साधन करने वाले की कोई सत्ता थी, आज साधक ही में कुछ नहीं फिर मन्त्र का प्रभाव क्या हो? यदि अच्छी जमीन न हो तो उसमें अच्छे से अच्छा बीज भी नहीं उग सकता। इससे बीज का निकम्मा होना नहीं साबित होता। यही बात मन्त्र के सबन्ध में भी कही जानी चाहिए। ऋषि का दिया मन्त्र झूठा कैसे हो सकता था। कुन्ती के आवाहन करते सूर्य देव आकर उपस्थित हुए। कुन्ती घबड़ा गयी। जो कार्य केवल कुतूहल के अधीन होकर किया जाता है, जिसमें विवेक की मात्रा नहीं होती उसकी सिद्धि होने पर आनन्द के स्थान में घबड़ाहट, भय और किं कर्तव्य विमूढ़ता उत्पन्न होती है। कुन्ती ने भी वह काम विवेक से नहीं किया था, इसके इस काम में कुतूहल ही प्रधान था, अतएव सूर्य देव के आते ही वह घबड़ा गयी, भयभीत हो गयी। क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए यह कुछ निश्चित न कर सकी। उसकी ऐसी दशा देखकर सूर्य देव ने उसे समझाया बुझाया। उसके कुछ स्वस्थ होने पर सूर्य देव ने कहा—मेरे तेज से तुम्हें एक पुत्र उत्पन्न होगा, वह हमारे ही समान अनुपम तेजस्वी होगा। कुन्ती के लिए सिवा उस बात के मान लेने के दूसरी गति न थी, उसने सिर झुकाकर मान लिया। सूर्य देव विदा हुए।

यथा समय कुन्ती के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पुत्र बड़ा ही तेजस्वी था, उसका शरीर दैवी कवच से ढँका हुआ था, वह कवच अभेद्य था, उस कवच को भेद कर इन्द्र का वज्र भी कर्ण के शरीर को नहीं छू सकता था। उस बालक के दोनों कानों

में अद्भुत कुण्डल था। उस कुण्डल की प्रभा अनुपम थी। बालक को देख कर कुन्ती प्रसन्न न हुई। कन्या के गर्भ से पुत्र उत्पन्न होना प्रकृति की दृष्टि से चाहे जैसा हो, पर समाज की दृष्टि से निन्दनीय है, बड़े ही कलङ्क की बात है। ऐसे अद्भुत और अनुपम पुत्र को कुन्ती छिपावे तो कहां छिपावे, वह लोक विलक्षण बालक छिपे तो कैसे छिपे, इन बातों पर कुन्ती ने बहुत विचार किया, पर वे कुछ निश्चित न कर सकीं, अन्त में उन्होंने प्रचलित नीच रीति का अवलम्बन किया। एक सन्दूक में रख कर लड़के को बहा दिया। वह लड़का बहता बहता अंगदेश में जाकर पहुंचा। भाग्य से वहीं का एक वासी सूत अपनी स्त्री के साथ उस समय वहां नदीपर आया हुआ था। स्त्री ने देखा कि नदी में एक सन्दूक बहती जा रही है। उसने अपने पति से उसे निकालने की प्रार्थना की। सन्दूक निकाल कर बाहर लायी गयी। खोलने पर एक सुन्दर लड़का उन लोगों ने देखा। लड़का जीवित था और हाल ही का उत्पन्न हुआ था। वे दोनों सन्तान हीन थे, उन्होंने इस बालक को भगवान् की देन समझा और वे बड़े प्रसन्न हुए। स्त्री ने कहा—मेरे गर्भ से पुत्र होना नहीं था, फिर भी हमारी प्रार्थना हमारी दीनता पर भगवान ने दया की, उन्होंने हमें एक पुत्र दिया। यह माता तो कहेगा, अब मैं इसे पालू पोसूँगी, घर ले चलो। वह बालक वहीं अंगदेश में पाला पोसा जाने लगा।

(३)

इधर कुन्ती का व्याह हस्तिनापुर के राजा पाण्डु के साथ

हुआ। राजा पाण्डु के दो व्याह हुए थे, उनकी दूसरी स्त्री का नाम माद्री थी। ये मद्र देश की राज कन्या थीं। राजा पाण्डु एक दिन अहेर खेलने बन में गये हुए थे, वहां एक मृगा और मृगी विहार कर रहे थे। मालूम नहीं जान कर या बे जाने ही पाण्डु ने उस मृगा को वाणों से विद्ध किया। वह मृगा पूर्व जन्म का तपस्वी ऋषि था, शापवश मृगा हुआ था। उसने राजा को शाप दिया। इस शाप को सुन कर राजा बड़े दुःखी हुए, उन्होंने मृगा की बड़ी विनती की, अपनी असमर्थता और दुरवस्था उन्होंने बतलायी, पर सब निष्फल हुआ, एक बार जो वाण हाथ से निकल जाता है वह फिर लौटता नहीं। तब से राजा बहुत सशङ्क रहने लगे, उन्होंने अपनी स्त्रियों का साथ करना छोड़ दिया। कुछ दिनों के बीतने पर एक दिन राजा रानियों के साथ बैठे हुए थे, वे रानियों को समझा रहे थे और अपने वंश नाश होने पर दुःख कर रहे थे। कुन्ती ने कहा यदि आप कहें तो मन्त्र के द्वारा देवताओं का आवाहन करके हम वंश रक्षा का उपाय करें। राजा ने प्रसन्न हो कर आज्ञा दे दी, आज्ञा देने के अतिरिक्त वे करते क्या। स्वयं शाप से भयभीत थे। कुन्ती ने क्रम से धर्मराज, वायु और इन्द्र का आवाहन किया और इनके तेज से क्रमशः देवताओं के समान तेजस्वी और वीर तीन पुत्र उन्हें हुए। उनके क्रमशः नाम ये थे—युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन। पुनः राजा के कहने से माद्री के लिए भी उन्होंने अश्विनी कुमार नामक देव वैद्यों का आवाहन कर दिया, उनसे माद्री के नकुल और

सहदेव दो पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार राजा पाण्डु के पाँच क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न हुए और वे पञ्चपाण्डव के नाम से प्रसिद्ध हुए।

पाण्डु के बड़े भाई का नाम था धृतराष्ट्र। वे जन्म से ही अन्धे थे, इस कारण राज्याधिकारी होने पर भी उन्हें राज्य न मिला। उनके छोटे भाई पाण्डु ही राजा हुए थे। पर पाण्डु का अकाल में ही स्वर्गवास हो गया। मृत्यु का कारण वही शाप हुआ। पाण्डु के स्वर्गवासी होने पर राज्य चलाने लायक उस कुल में धृतराष्ट्र के अतिरिक्त दूसरा न था। लड़के छोटे छोटे थे, अतएव अगत्या वे ही सिंहासन पर बैठाये गये। राजा धृतराष्ट्र ने पाँचों पाण्डवों का लालन पालन अपने पुत्रों के समान ही किया। इनके मन में किसी प्रकार का भेद भाव न था, कोई खटका न था। दोनों ही साथ साथ पढ़ते लिखते थे, खेलते कूदते थे। इनके देख भाल की व्यवस्था भीष्म पितामह के जिम्मे थी। भीष्म पितामह ने अस्त्र विद्या सिखाने के लिये पहले कृपाचार्य को नियुक्त किया, पुनः द्रोणाचार्य को। ये दोनों उस समय सर्व श्रेष्ठ धनुर्धारी थे। इनके शिष्य होकर राजपुत्रों ने अस्त्र विद्या में विशेष उन्नति की।

बुद्धिमान शिष्य पर गुरू का प्रेम अधिक होता है यह स्वभाव सिद्ध बात है, धृतराष्ट्र के पुत्रों से पाण्डव अधिक योग्य थे, ये धर्मात्मा, सदाचारी, विनयी, उदार और पराक्रमी तथा बुद्धिमान थे। कोई भी विद्यार्थी इन गुणों के कारण गुरू का प्रिय हो सकता है और अपने साथियों में श्रेष्ठ तथा उनके लिये आदर्श हो सकता है। साथ ही गुणी और गुणहीनों का पारस्परिक

विद्वेष भी सदा से चला आता है। पाण्डव देव पुत्र थे, इन में देव गुण थे, इनकी बराबरी भला मनुष्य पुत्र कैसे कर सकता है। समान शक्ति वालों में डाह ईर्ष्या आदि का होना स्वाभाविक कहा जा सकता है। धनी ग़रीब में समता कैसी? इनमें डाह की जगह कौन सी है। देव पुत्र बड़ा ही होगा, वह अधिक पराक्रमी और अधिक योग्य होगा ही, मनुष्य पुत्र को इनसे समता करने की ज़रूरत क्या है? पर अविवेकी मनुष्य अवसर पड़ने पर इस स्पष्ट और आवश्यक बात को भूल जाते हैं। पाण्डवों की योग्यता धृत-राष्ट्र के पुत्रोंको खटकने लगी, वे भीतर ही भीतर उनसे डाह रखने लगे। समय समय पर उनको नीचा दिखाने, उन्हें अपमानित करने का भी प्रयत्न करने लगे। पर वे कुछ कर न सकते थे, पाण्डवों की बुराई के लिए वे जो प्रयत्न करते थे उनसे उनकी भलाई ही होती थी, लोगों की सहानुभूति इनसे होती जाती थी, अपने उपायों की निष्फलता देख कर धृतराष्ट्र पुत्रों का क्रोध और अधिक बढ़ जाता था। वे उन्हें और दबाने का यहाँ तक कि उनकी दुनिया से उठा देने का प्रयत्न करने लग जाते थे।

भाग्य या अभाग्यवश दुर्योधन के साथ कर्ण और शकुनि मिल गये। कर्ण के परिचय की आवश्यकता नहीं। वही बालक कर्ण के नाम से प्रसिद्ध हुआ था जिसे एक दिन अंग देश के एक सूतने नदी से निकाला था। वह लड़का जब बड़ा हुआ, तब उसके पराक्रम प्रकट होने लगे, उसकी शक्ति विकसित होने लगी, उसने अपने को एक बलशाली वीर बनाया। वह छोटा क़सबा उसके

लिए अनुपयुक्त मालूम होने लगा। उसके पिता सूत का हस्तिना-पुर के राजघराने से संबन्ध था। वह बीच बीच में वहां आया जाया करता था। जब सूत ने सुना कि हस्तिनापुर में राजकुमारों की शिक्षा की उत्तम व्यवस्था हुई है, द्रोणाचार्य वहां पढ़ा रहे हैं, तब उसके मन में भी यह बात आयी कि मैं भी अपने पुत्र को ले कर जाऊँ और शस्त्र विद्या की इसे अच्छी शिक्षा दिलाऊँ। उसने कर्णसे अपना अभिप्राय प्रकाशित किया। कर्ण बहुत प्रसन्न हुए और चलने के लिए राजी हो गये। दिन नियत किया गया। दोनों पिता पुत्र वहां पहुँचे। उस समय राजपुत्र गण अपनी शिक्षा का कौशल दिखा रहे थे। बहुत ही सुन्दर एक मण्डप बना हुआ था, राजा धृतराष्ट्र, भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य विदुर आदि सभी माननीय वहां उपस्थित थे, नगरवासी स्त्री पुरुष दर्शक की श्रेणी में बैठे थे। उसी समय कर्ण वहां पहुँचे। कर्ण ने भी अपना कौशल दिखाने की आज्ञा चाही, और अर्जुन से द्वन्द्व युद्ध मांगा। अर्जुन उठे और रङ्गशाला में आने लगे, क्योंकि क्षत्रिय वीर युद्ध के आह्वान की अपेक्षा नहीं करते। उस समय कृपाचार्य ने उठ कर कहा, अर्जुन क्षत्रिय-राजकुमार है, वह क्षत्रिय राजकुमार के साथ युद्ध कर सकता है। कर्ण अपने को नहीं पहचानता, इसी कारण वह अर्जुन से द्वन्द्व युद्ध करना चाहता है, उसे इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि वह सूत-पुत्र है, राजकुमार नहीं। कर्ण के जीवन में यह पहला अवसर था कि सूत पुत्र होने के कारण उसे अपमानित होना पड़ा और इस

अपमान का कारण उसने अर्जुन को समझा। अर्जुन से उसका बैर बँध गया, राजपुत्र न होने के कारण उसका एक प्रिय मनोरथ असफल हुआ। वह सिर झुका कर खड़ा हो गया। यह देख कर दुर्योधन आगे बढ़े और उन्होंने कहा कि मैं कर्ण का राज्याभिषेक अंग देश के सिंहासन पर करता हूं। वहीं कर्ण का राज्याभिषेक हुआ। सूतपुत्र कर्ण राजा कर्ण हुए। राजा कर्ण दुर्योधन के साथ रहने लगे। कर्ण ने अपने को अपमान के कीचड़ में फंसा हुआ समझा था, दुर्योधन ने उसे उस कीचड़ से निकाला, ऐसी दशा में उसका राजा दुर्योधन का अनुगत बन जाना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

कर्ण अब हस्तिनापुर में ही अधिकतर रहने लगे। एक दिन वे द्रोणाचार्य के यहां गये और उन्होंने प्रार्थना की कि महाराज, आप मुझे ब्रह्मास्त्र सिखा दीजिए। द्रोणाचार्य ने कर्ण का अभिप्राय समझ लिया। किस अभिप्राय से प्रेरित हो कर यह ब्रह्मास्त्र सीखने आया है, यह बात उन्हें मालूम हो गयी। अर्जुन द्रोणाचार्य का प्रिय शिष्य था, उसी को मारने तथा नीचा दिखाने के लिए कर्ण ब्रह्मास्त्र सीखने आया था। अतएव उन्होंने उत्तर दिया कि ब्रह्मास्त्र दो ही वर्ण वालों को सिखाया जा सकता है, एक तो ब्राह्मण जो श्रोत्रिय हो तपस्वी हो, और दूसरा क्षत्रिय, जो शान्त और दान्त हो। कर्ण वहां से निराश होकर लौट आया। वह बहुत दुखी हुआ। उसने सम्मानपूर्वक द्रोणाचार्य से अपनी इच्छा की पूर्ति में सहायता मांगी। उसने कहा, कृपाकर बतलाइए, मेरा मनो-

रथ कहाँ पूरा होगा ? क्या महेन्द्र पर्वतपर परशुरामजी के निकट मैं जाऊँ ? द्रोणाचार्य ने वहां जाने की आज्ञा दे दी। कर्ण वहां से उठ कर चला और यथा समय वह महेन्द्र पर्वतपर परशुरामजी के समीप पहुँचा। परशुरामजी को प्रणाम करके उसने कहा, मैं भृगु-वंशी ब्राह्मण हूं। परशुराम ने उसका नाम, गोत्र तथा स्थान पूछा और आने का उद्देश भी पूछा, उसकी सब बातें सुनकर परशुराम ने अपने आश्रम में उसे ठहराया। इस आगत-स्वागत से कर्ण बहुत प्रसन्न हुआ। उस पर्वत पर समय समय पर देवता, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस आदि आते जाते थे, कर्ण से उन सब का परिचय हो गया। समय समय पर उनसे आलाप कर के कर्ण बहुत प्रसन्न होता था और साथ ही विधिपूर्वक सब गूढ़ अस्त्र शस्त्रों की शिक्षा भी प्राप्त करता था। कर्ण ने अपना भाग्योदय समझा, और इस से वह बड़ी प्रसन्नता से रहने लगा।

एक दिन आश्रम के पास ही समुद्र-तीर पर वह धनुष बाण लेकर घूम रहा था। अकस्मात् एक अग्निहोत्री ब्राह्मण की गौ की हत्या उससे होगई किन्तु उसे इस बात की खबर भी न हुई। वह आनन्द से उसी प्रकार वहीं घूमता रहा, इस प्रकार जब कुछ समय बीत गया, तब उसे मालूम हुआ कि मुझ से एक गोहत्या हो गयी है। तब व्याकुल होकर कर्ण उस ब्राह्मण के पास गया और उसने दीनता से कहा द्विजश्रेष्ठ, मुझ से अनजान में ही एक बड़ा अपराध हो गया है, आपकी गौ की हत्या मुझ से होगयी है, अपराध बहुत बड़ा है, पर आप दयालु हैं, कृपाकर

मेरे अपराधों को क्षमा कीजिए। इस प्रकार कर्ण बार बार उस ब्राह्मण से ऐसी प्रार्थना करने लगा, पर अग्निहोत्र की गौ के मारी जाने से वह ब्राह्मण नितान्त क्रुद्ध होगया था। उसने कर्ण को दुत-कार कर कहा, रे दुष्ट बुद्धि. नीच, तेरे समान पापी का वध करना ही उचित है। पर मैं इस समय तेरे बध से अपना हाथ कलुषित नहीं करना चाहता। अच्छा, ले अब तू अपने पापों का फल भोग, जिसके पराक्रम से तू ईर्ष्या करता है और जिसको पराजित करने के लिए तू अस्त्र शस्त्रों का दृढ़ता के साथ अभ्यास कर रहा है उससे जब तू द्वैरथ युद्ध में प्रवृत्त होगा तब तेरे रथ का पहिया पृथिवी में धस जायगा। उस समय तेरा कर्तव्य ज्ञान लुप्त हो जायगा, तेरी बुद्धि लुप्त हो जायगी, और उसी समय तेरा मस्तक तेरे शत्रु के द्वारा काटा जायगा। मूर्ख, तू यहां से शीघ्र चला जा। जिस प्रकार उन्मत्त होकर तूने मेरे यज्ञ की गौ का प्राण नाश किया है, वैसे ही तेरी उन्मत्तावस्था में शत्रु तेरा सिर काटेगा। ब्राह्मण के इस शाप से कर्ण बड़ा दुखी हुआ। अनेक गौ तथा बहुमूल्य रत्न आदि लेकर वह उस ब्राह्मण की सेवामें पुनः उपस्थित हुआ। उसने उपहार की सब वस्तु ब्राह्मण को देकर प्रार्थना की। उससे प्रसन्न हो जाने के लिए निवेदन किया, पर उस ब्राह्मण ने कहा "मेरी बात झूठी नहीं हो सकती, जो कह दिया सो कह दिया, उसका भोग करना ही होगा। तुम्हारी इच्छा यहां रहने की हो तो यहां ही रहो, या जाना चाहो तो चले जाओ।" ब्राह्मण की इस अन्तिम बातसे कर्ण बहुत दुखी हुआ, वह वहांसे परशुरामजी के आश्रम को लौट आया।

(४)

परशुरामजी कर्ण पर बहुत प्रसन्न थे। उसकी वीरता, विद्यानुराग, इन्द्रिय-संयम और गुरु-शुश्रूषा आदि गुणों से वे उस पर मुग्ध हो गये थे। उन्होंने समस्त अस्त्र शस्त्रों के प्रयोग तथा उनके निवारण रहस्य कर्ण को बतला दिये। प्रबल पराक्रमी कर्ण ने गुरु के बतलाये विषयों का ग्रहण किया और वहीं आश्रम में ही रहकर, बड़ी एकाग्रता के साथ, वह अस्त्र शस्त्रों का अभ्यास करने लगा। एक दिन परशुरामजी भ्रमण करने निकले, साथ में कर्ण भी था। उसदिन परशुराम का उपवास था, इस कारण भ्रमण करने से थक गये, और निद्रा आने लगी। साथ में विश्वासी और प्रिय शिष्य कर्ण था ही। उसी के जंघे पर सिर रखकर वे सो गये। सोते ही उन्हें नींद आगयी, थोड़ी ही देर के बाद विकटाकार मल मांस मूत्र रुधिर खाने वाला एक कीड़ा आया और वह कर्ण की जांघ छेदकर लहू पीने लगा। कर्ण की दशा बड़ी विलक्षण होगयी, यदि वे थोड़ा भी हिलते डुलते हैं तो गुरु की नींद खुलती है, यदि यों वे चुपचाप बैठे रहते हैं तो कीड़ा खून चूसता जाता है! कर्ण अपना उस समय का कर्तव्य निश्चित न कर सके, वे अचल होकर बैठे रहे। कीड़ा भी अपना काम करता रहा। उसके काटने से कर्ण के शरीर से रुधिर की धारा बह निकली। महा तेजस्वी परशुराम का भी शरीर खून से भीग गया। वे उठ गये और उन्होंने कर्ण से कहा तुम ने यह क्या किया! मेरे शरीर को अपवित्र कर डाला! इसका जो कुछ कारण हो निर्भय

होकर कहो। कर्ण ने सब बातें यथावत् कह सुनायीं, कैसे कीड़ा आया और उन्होंने गुरुजी को क्यों नहीं उठाया इसका यथावत् वर्णन किया। परशुरामजी ने भी देखा कि कर्ण की जंघा के भीतर घाव करके एक कीड़ा बैठा है। उसके आठ पैर हैं सूई के समान उसके तीखे दांत हैं, उसका आकार सूअर से मिलता जुलता था और उसका नाम अलर्क था। परशुराम के देखते ही वह व्याकुल होगया और उसके प्राण पखेरू उड़ गये। उसकी मृत्यु की थोड़ी ही देर बाद भयङ्कर आकार वाला एक काला राक्षस देख पड़ा। वह परशुराम के सामने आया और हाथ जोड़कर कहने लगा, भृगुकुल-भूषण परशुराम, आपने मेरा इस नारकीय जीवन से उद्धार करके बड़ा उपकार किया है, आप धन्य हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूं और आपकी आज्ञासे अपने स्थान पर जाना चाहता हूं।

परशुराम ने उसकी बातें सुनकर उससे पूछा, तुम कौन हो, किस कारण इस नरक में पड़े थे? राक्षस ने परशुराम को इस प्रकार उत्तर दिया—"परशुराम, सतयुग में दंश नाम का एक राक्षसों का प्रधान था, वही मैं हूं, उसी समय तुम्हारे पूर्व पितामह महर्षि भृगु भी थे। उनकी और मेरी दोनों की अवस्था समान थी। एक दिन मैंने बलपूर्वक महर्षि भृगु की स्त्री को हर लिया। इससे महर्षि ने क्रोध किया और उनके शाप से कीड़ा होकर मैं पृथिवी पर गिर पड़ा। महर्षि ने क्रोध करके कहा, नीच, तू महाघोर नरक में पड़ेगा और मलमूत्र मांस रुधिर आदि ही तेरा आहार होगा। महर्षि की बातों से मैं बहुत ही दुःखी

हुआ, पर कोई उपाय नहीं था। मैंने अपराध तो किया ही था, तथापि साहस करके मैंने पूछा, कितने दिनों में मैं तुम्हारे इस शाप से मुक्त हो सकूँगा ? मेरी इस कातरोक्ति को सुनकर महर्षि भृगु ने कहा, मेरे कुल में परशुराम नामक एक महात्मा होगा. उसके दर्शन से तेरी मुक्ति हो सकेगी। उन्हीं के शाप से मैं इस नीच योनि में पड़ा हुआ था और इतना कष्ट उठा रहा था आज तुम्हारे पवित्र दर्शन होने के कारण इस पाप योनि से मुक्त हो सका हूं" ।

इस प्रकार अपना समस्त वृत्तान्त सुनाकर वह राक्षस परशुराम को प्रणाम कर अपने स्थान को गया। अब तक परशुराम का ध्यान दूसरी ओर था। वे उस राक्षस से बातचीत करने में लगे थे, पर राक्षस के चले जानेपर उनका ध्यान कर्ण की ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने क्रोध करके कर्ण से पूछा, अधम, मुझे मालूम हो गया कि तू ब्राह्मण नहीं है, ब्राह्मण में इतनी दृढ़ता नहीं हो सकती, जितनी इस समय तू ने दिखायी है, अवश्य ही तू क्षत्रिय है, अब सच सच अपना वृत्तान्त कह ।

कर्ण बड़ा भयभीत हुआ। एक ब्राह्मण का शाप उसे मिल चुका था, अब दूसरे का अवसर सामने आया सा मालूम पड़ने लगा। अतएव उसने अपना अपराध स्वीकार किया। उसने कहा कि मैं जाति का सूत हूं। अस्त्र विद्या के जानने के लिए मैं बहुत ही उत्कण्ठित था, मैं कई आचार्यों के पास गया पर लोगों ने सूत समझ कर पढ़ाना अस्वीकार किया। आपसे भी मैं अपनी यथार्थ

जाति प्रकट करता तो आप भी न पढ़ाते यह मेरा विश्वास था। इसी कारण मैंने आप से छल किया और जाति छिपायी। आप मेरे अपराधों को क्षमा करें, विद्या दाता गुरु पिता बतलाये गये हैं यह बात बिलकुल सच है, यही समझ कर मैंने अपने को महा-गोत्री ब्राह्मण बतलाया है। परशुराम कर्ण की बातें सुनकर बहुत ही क्रुद्ध हुए, पर उन्होंने अपना क्रोध छिपाया और वे हँस कर बोले। उस समय कर्ण भय से कांप रहा था, दोनों हाथ वह जोड़े था, वह मूर्तिमान दीनता के रूप में खड़ा था। परशुराम ने कहा, मूर्ख, तू ने अस्त्र लोभ से मुझ से मिथ्या व्यवहार किया है, अतएव तेरा सब सीखा हुआ ब्रह्मास्त्र अवसर आने पर भूल जायगा। पर जब तक अपने समान वीर योद्धा से युद्ध करते करते तू विपद्ग्रस्त न होगा, उस मृत्युकाल को छोड़ कर और सब समय तुझे ब्रह्मास्त्र स्मरण रहेगा। क्योंकि ब्रह्मास्त्र ब्राह्मण को ही मृत्युकाल के समय स्मरण रहता है, दूसरों को नहीं। अब तू यहां से चला जा, क्योंकि असत्य व्यवहार करने वाले पुरुषों के रहने के योग्य यह भूमि नहीं है। कर्ण वहां से हस्तिनापुर लौट आया और उसने दुर्योधन से कहा कि मैं अस्त्र शस्त्र सीख कर लौट आया।

(५)

कर्ण राजा दुर्योधन के साथ आनन्द से समय बिताने लगे और पाण्डवों का सर्वनाश करने का उपाय सोचने लगे। इस प्रकार कुछ दिन बीत गये। एक समय इन लोगों को खबर लगी

कि कलिङ्गदेश के राजा चित्राङ्गद की राजधानी में स्वयंवर-सभा होने वाली है, वहां देश विदेश से अनेक राजा आये हुए हैं। राजा दुर्योधन भी कर्ण को साथ लेकर चले। यथासमय ये लोग कलिङ्गदेश की राजधानी राजपुर में पहुँचे। वहां चारो दिशाओं से और भी बड़े बड़े राजा आये थे। यथा समय सब राजा लोग स्वयंवर मण्डप में पूर्व नियत अपने अपने स्थान में बैठे। हाथ में जयमाल लिये अपनी सखियों के साथ राजकुमारी आयी और राजाओं को देखने लगी। राजकुमारी की सखियां राजाओं का परिचय बतलाती जाती थीं। कई राजाओं के सामने से वह आगे निकल गयी। राजाओं को देखती हुई वह राजा दुर्योधन के मंच के सामने पहुँची और उनको भी छोड़ कर आगे बढ़ी। दुर्योधन ने इससे अपना अपमान समझा और उसने अपने नौकरों से राज-कन्या को पकड़वा कर रथ में बैठवा लिया। द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह और कर्ण की वीरता का दुर्योधन को भरोसा था, इसी घमण्ड में आकर उसने यह नीति-निन्दित कार्य किया। दुर्योधन के इस कार्य ने राजाओं को क्रुद्ध कर दिया। राजा लोग अपने अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हो लड़ने के लिए सामने आये। वे सब के सब मिल कर दुर्योधन और कर्ण पर वाण वर्षा करने लगे। कर्ण ने उन सब का अकेले सामना किया। उन्होंने कई राजाओं के धनुष काट डाले, कितनों के रथ के घोड़े मार गिराये और कई सारथियों को प्राणहीन कर दिया। कर्ण के पराक्रम को न सह सकने के कारण कई राजा भाग गये और कई ने अपने सारथि

को शीघ्र हट चलने के लिए कहा। इस प्रकार कर्ण वहां विजयी हुए, उनके पराक्रम से दुर्योधन के प्राण बचे। वे प्रसन्नतापूर्वक राजकन्या को लेकर हस्तिनापुर लौट आये।

एक बार मगधदेश के पराक्रमी राजा जरासन्ध ने कर्ण को युद्ध के लिए बुलाया। जरासन्ध स्वयं एक प्रसिद्ध वीर था, उसने कर्ण की वीरता की प्रसिद्धि सुनी, कर्ण कैसा वीर है इस बात के जानने की उसकी इच्छा हुई और उसने कर्ण को युद्ध के लिए बुलवा भेजा। कर्ण उसके यहां गया और नियत समय पर दोनों वीर लड़ने लगे। दोनों में खूब लड़ाई हुई, दोनों वीर थे, दोनों को अस्त्र शस्त्रों का भरपूर ज्ञान था। लड़ते लड़ते दोनों के धनुष टूट गये। तब वे तलवार लेकर लड़ने लगे। जब तलवार भी टूट गई, तब अखाड़े में आकर मल्लयुद्ध करने लगे। जरासन्ध का शरीर दो टुकड़ों से जुड़ा हुआ था। जरा नाम की एक राक्षसी ने उसे जोड़ा था, कर्ण के प्रहारों से जरासन्ध का जोड़ शिथिल हो गया, उसके फटने की आशङ्का होने लगी। तब जरासन्ध ने कर्ण से कहा, "तुम्हारी वीरता प्रशंसनीय है, तुम्हारा पराक्रम अतुलनीय है।" युद्ध समाप्त हुआ। राजा जरासन्ध ने मालिनी नाम की एक नगरी कर्ण को देकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की। राजा दुर्योधन की सम्मति से कर्ण अंगदेश के साथही साथ मालिनी का, जिसका दूसरा नाम चम्पा था, शासन करने लगे।

कर्ण एक बार दिग्विजय के लिए भी निकले थे। अर्जुन की वीरता और पराक्रमपूर्ण कार्यों को ये सह न सकते थे। न मालूम

अर्जुन से इनकी क्या शत्रुता थी। अर्जुन जो काम करें वह कर्ण के लिए भी आवश्यक है, कर्ण उसे भी अवश्य करेंगे, जिससे यह कोई न कहने पावे कि अर्जुन ने अमुक कठिन काम कर दिया और वह कर्ण से न हो सका। यह बात कर्ण के लिए असह्य थी। जब कर्ण ने सुना कि अर्जुन दिग्विजय करके लौट आये हैं, चारो दिशाओं के राजाओं को इन्होंने युधिष्ठिर का करद राजा बनाया है, तब भला ये चुप कब बैठने वाले थे! ये भी दिग्विजय के लिए निकल पड़े और चारो दिशाओं से दिग्विजय करके लौट आये।

(६)

यह बात लिखी जा चुकी है कि कर्ण वीर थे और पाण्डवों से इनकी स्वाभाविक शत्रुता थी और इनकी यही पाण्डव-शत्रुता इनके भाग्योदय तथा अधःपात का कारण थी। द्रोणाचार्य की आज्ञा से गुरु दक्षिणा में राजा द्रुपद को जब अर्जुन पकड़ने गये थे तब कर्ण भी अपनी मण्डली के साथ गये थे, पर वहां इनसे कुछ करते धरते न बना। द्रुपद की वीरता के सामने इनको और इनकी सेनावालों को नीचा ही देखना पड़ा था। इसी प्रकार द्रुपद की सभा में मत्स्यवेध का प्रण था, और मत्स्यवेध करनेवाले को द्रौपदी मिलने की बात थी। वहां भी कर्ण अपनी मण्डली के साथ गये थे और उन्होंने मत्स्यवेध करने की आज्ञा चाही थी, पर रोक दिये गये। सभा के लोग 'सूत सूत' कहकर चिल्ला उठे। क्षत्रिय मत्स्यवेध कर सकता है, सूत नहीं, इस अपमान से भी कर्ण को मर्माहत होना पड़ा था और इस बात का अनुमान करना पड़ा

था कि, हाय ! हम राजकुमार न हुए ! दुर्योधन की कृपा से हम राजा तो अवश्य हुए पर राजकुमार न हो सके। इससे वे पाण्डवों पर बड़े क्रुद्ध हो गये।

दुष्ट दुर्योधन ने भरी सभा में द्रौपदी पर जो अत्याचार किया था उसमें कर्ण का भी मज़बूत हाथ था। उस अभिनय में कर्ण ने भी तत्परता के साथ योग दिया था। बन में पाण्डवों को तंग करने के लिए दुर्योधन के साथ ये भी गये थे और चित्ररथ के सामने से उन्हें भागना पड़ा था। पाण्डवों के अज्ञात वास के समय उन्हें ढूँढ़ने के लिए दुर्योधन बहुत व्याकुल था। वह सोचता था कि इस अज्ञात वास के समय यदि उनका पता लग जाय, तो धार्मिक पाण्डवों को अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार १३ वर्ष और वनवास करना पड़ेगा, और तेरह वर्ष के लिए हम और निश्चिन्त हो जायँगे। इसी आशा से दुर्योधन ने विराट पर चढ़ाई की थी। राजा विराट् का साला कीचक मारा गया था, इस बात से दुर्योधन के मन में यह सन्देह उत्पन्न हुआ था कि यह अवश्य ही भीम का काम है, कीचक को मारनेवाला भीम के अतिरिक्त दूसरा कौन हो सकता है ? इन्हीं सब सूत्रों के आधार पर उसने विराट पर चढ़ाई की। पाण्डव वहां थे, इसमें सन्देह नहीं। अर्जुन युद्ध करने भी आये थे, अर्जुन के पराक्रम से कर्ण, भीष्म द्रोणाचार्य आदि महावीरों के छक्के छूट गये थे, वे अपने अपने मनोरथों को साथ लिए हुए बेइज़्ज़ती के साथ लौटे थे। पाण्डवों के अज्ञात वास का समय बीत चुका था, इस से दुर्योधन को तो

ताश होना ही पड़ा, साथ ही कर्ण को भी निराश होकर वहां से ौटना पड़ा। अर्जुन को वे हरा न सके, स्वयं हार गये।

पाण्डवों के प्रति कर्ण का यह विकट विद्वेष प्रसिद्ध हो गया। कर्ण की वीरता देखकर पांडव पक्षवाले अर्जुन के लिए चिन्तित ाये थे। अर्जुन इन्द्र के पुत्र थे यह बात बतलायी जा चुकी है। र्ण से अर्जुन का कोई अनिष्ट न हो, इस बात के लिये वे सदा ावधान रहा करते थे और शक्ति भर प्रयत्न भी करते रहते थे। र्ण के पास दो वस्तु ऐसी थीं जिनसे उसकी रक्षा होती थी, जिनसे ह अजेय बना हुआ था। एक कवच, दूसरा कुण्डल। इन्द्र न ही मन इस बात का उद्योग किया करते थे कि ऐसा कोई उपाय निकल आवे जिससे कर्ण का कवच और कुण्डल उसके ास से अलग किये जायँ। इन्द्र ने यह भी सुन रखा था कि पूजा के समय कर्ण के यहां जाकर जो कोई कुछ भी मांगे वह निराश नहीं लौटेगा, कर्ण उसका मनोरथ अवश्य पूरा करेगा। बहुत सोचने विचारने पर पूजा के समय इन्द्र ने कर्ण के समीप जाना ही निश्चित किया। अपने निश्चय के अनुसार इन्द्र ब्राह्मण वेषधर कर एकाएक कर्ण के पास पहुँचे। इस समय कर्ण पूजा कर रहा था। इन्द्र ने अपना अभिप्राय प्रकट किया। उन्होंने उसके कवच और कुण्डल मांगे। कर्ण सब रहस्य समझ गया। इस घटना के होने की सूचना उसे पहले ही से सूर्य के द्वारा मिल चुकी थी। कर्ण ने कहा—मैं आप का अभिप्राय समझ गया, आप इन्द्र हैं और ब्राह्मण वेष से मेरे यहां याचक बन कर आये हैं। मेरे परा-

क्रम से भयभीत होकर आप अपने पुत्र की रक्षा करना चाहते हैं और उसी इच्छा ने आप से यह कर्म कराया है। अच्छा, इन बातों के कहने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं और समय भी नहीं, क्योंकि मैं अपनी आराधना के समय किसी भी याचक को निराश कर नहीं लौटाता। आप जो मांगें वह मैं देने को तैयार हूँ। औरों को तो मैं बिना किसी शर्त के उनकी इच्छा के अनुसार दान दिया करता हूं पर आप से एक शर्त करूंगा, क्योंकि आप मुझ से छल कर रहे हैं। आप मुझे एक वीरघातिनी शक्ति दें तब मैं अपना कवच और कुण्डल आप को दूँ। शक्ति देकर और कर्ण का कवच तथा कुण्डल लेकर इन्द्र वहां से बिदा हुए।

(७)

कौरव पाण्डव का जब प्रसिद्ध युद्ध प्रारम्भ हुआ था, तब कर्ण ने उसमें प्रधानतया भाग लिया था। भीष्म पितामह की मृत्यु के बाद इन्होंने अपनी वीरता दिखायी थी। जब तक भीष्म पितामह जीते रहे तब तक कर्ण रणक्षेत्र में न जा सके, क्योंकि भीष्म पितामह ने कर्ण की अधिरथ वीरों में गणना की थी। कर्ण ने इसे अपना अपमान समझा था और उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक भीष्म जीते हैं तब तक रणक्षेत्र में मैं न जाऊंगा। अतएव जब तक भीष्म सेनापति रहे तब तक कर्ण रणक्षेत्र में नहीं आये। भीष्म के शरशय्या ग्रहण करने के पश्चात् द्रोणाचार्य सेनापति बनाये गये और कर्ण भी रणक्षेत्र में आये। इन्होंने बड़ी वीरता दिखायी। पाण्डवों के वीरों को जर्जर कर दिया, युधिष्ठिर की बुरी

दशा की, अभिमन्यु को कपट से मारनेवालों में ये भी थे और प्रधान थे ! धृष्टद्युम्न के द्वारा जब द्रोणाचार्य मारे गये तब कर्ण सेनापति हुए और इनके सारथि शल्य हुए। शल्य सदा कर्ण को हतोत्साह किया करते थे और अर्जुन की प्रशंसा करते थे। जहां कर्ण ने अपने गर्व की कोई बात कही कि झट से शल्य उसके विरोध में कुछ कह देते थे। अर्जुन के साथ कर्ण बड़ी वीरता से लड़े। अन्त में इनके रथ के पहिए पृथिवी में धस गए और उसी समय ये अर्जुन के द्वारा मारे गये।

कर्ण जानते थे कि युधिष्ठिर आदि पाण्डव हमारे सहोदर भाई हैं, पर पाण्डवों को इस बात की ख़बर न थी। युधिष्ठिर कर्ण की जीवित दशा में उन्हें सूतपुत्र ही के रूप में जानते रहे। कर्ण का यथार्थ परिचय उन्हें युद्ध समाप्त होने के बाद हुआ। कौरव पाण्डव पक्ष के प्रधान प्रधान वीर मारे जा चुके थे। उस समय कुन्ती के द्वारा युधिष्ठिर को कर्ण का यथार्थ परिचय मिला। कर्ण हमारे सहोदर भाई थे, यह सुनकर युधिष्ठिर बड़े दुखी हुए। उन्होंने बहुत विलाप किया। अपने को धिक्कारा। उस समय नारद भी युधिष्ठिर की सभा में विराजमान थे। नारद ने युधिष्ठिर को बहुत समझाया, कर्ण की मृत्यु का कारण बतलाया, कर्ण की मृत्यु के कारण पाण्डव नहीं हैं यह बात भी कथाओं के द्वारा उन्होंने साबित की। पर युधिष्ठिर का दुःख दूर न हुआ। तब कुन्तीदेवी ने युधिष्ठिर को बहुत समझाया, उन्होंने कहा, बेटा युधिष्ठिर, तुम बुद्धिमान हो, समझदार हो। तुम्हें वस्तु का यथार्थ रूप समझ कर शोक दुःख

करना चाहिए। यह ठीक है कि हमने तुम लोगों को यह बात नहीं बतायी थी कि कर्ण तुम्हारा सहोदर भाई है। पर कर्ण को यह बात बतला दी गयी थी। उसके पिता भगवान् सूर्य ने उसका तुम से मेल कराने का बहुत प्रयत्न किया था. भगवान् सूर्य ने उसे बहुत समझाया बुझाया था, पर कोई फल न हुआ, उसने किसी की भी बात न सुनीं। वह काल के वश हो गया था, वह भ्रातृवध करना चाहता था, बहुत समझाने बुझाने पर उसने अर्जुन के अन्य भाइयों को न मारने का हमको बचन दिया था। तुमको अब शोक न करना चाहिए।

अंगराज कर्ण की जीवन घटनाएँ बड़ी अद्भुत हैं। कुछ बातें ऐसी हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि ये एक ऊंची श्रेणी के पुरुष थे, और कुछ बातें ऐसी हैं, विशेषकर पाण्डवों के सम्बन्ध में, जो इन्हें एक बहुत ही साधारण श्रेणी का मनुष्य बनाती हैं, कई आचरण तो इनके ऐसे हैं जिनसे इनका महत्व बहुत ही नीचे गिर गया है। कर्ण वीर थे, बड़े दानी थे, बड़े धर्मात्मा थे, पर द्रौपदी के प्रति जो आचरण किया गया उनके प्रधान संचालक ये ही थे। माना कि पाण्डवों से इनका द्वेष था, पाण्डवों को सताना दुखाना इनका कर्त्तव्य था, पर द्वेष मनुष्यत्व भुला देने की आज्ञा तो नहीं देता। यह और इसी तरह की और बातें इन्हें ऊपर उठने नहीं देतीं। जब बाल अभिमन्यु के वध में इनको हम खड़ा देखते हैं तब इनके दान का कोई महत्व नहीं रह जाता।

समाज ने इनके प्रति बुरा व्यवहार किया था। निर्जीवता के साथ नियमों को पालनेवाले समाज ने इन्हें चिढ़ा दिया था। इनकी मानसिक वासनाओं को ठीक ठीक विकसित होने नहीं दिया था। कर्ण के लिए संसार अपमान का स्थान था, कोई इनसे भर मुंह बोलनेवाला न था, पर इनकी शक्तियां, इनके गुण अपमानित होने योग्य न थे। समाज निर्जीव था, सूत नाम पड़ जाने से वह गुणों को भूल गया। समाज कहता था हमें गुण न चाहिए न बल चाहिए, हम दुर्योधन का आदर करेंगे, पर कर्णका नहीं। इसीके कारण कर्ण की प्रकृति डांवा डोल हुई, और उनसे कुछ छोटे छोटे कार्य हो गये। सामाजिक अत्याचार का व्यक्ति विशेष पर क्या प्रभाव पड़ता है इस बात के जानने की सामग्री इस जीवन चरित में बहुत है।